आत्म धर्म।

लेखक—

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद

वीर सं. २४४५] विक्र. सं. १९७६ [ई. स. १९१

मूल्य बारह आना।

प्रकाशकः—
मूलचंद किसनदास कापड़िया
चंदावाड़ी, सूरत.

मुद्रकः—
ईश्वरलाल किसनदास कापड़िया
'जैनविजय' प्रिन्टिंग प्रेस, खपाटिया चकला
लक्ष्मीनारायणकी वाड़ी—सूरत

प्रकाशकीय वक्तव्य।

जो पुस्तक पाठकोंके हाथमें है उसका विषय यद्यपि भारत वर्षमें बहुलतासे प्रचारित हो रहा है और विदेशोंमें भी इस विषयके जाननेकी बहुत उत्कण्ठा है; परन्तु जिस रीतिसे और जिस उद्देश्यसे यह पुस्तक तैयार की गई है वह वास्तवमें अपूर्व है। पुस्तकका विषय उसके नामसे झलकता है और प्रत्येक अध्यात्म प्रेमीका हृदय उसके पढ़नेकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है। पुस्तकके अन्तमें जो आत्मधर्म सम्मेलनके ११ नियम दिये हैं उन नियमोंको पढ़कर विना किसी प्रेरणाके भारतके भिन्न २ स्थानोंके ७९ समासद हो चुके हैं और लण्डनके श्रीयुत हर्बर्ट वारनने भी इन नियमोंको पसंद करके समासद होना स्वीकार किया है। हम अन्य पाठकोंसे भी कहेंगे कि इस पुस्तकको आदिसे अन्त तक एक वार पढ़ जाइये फिर सम्मेलनके उन नियमोंको देखिये तब आपको इनकी उपयोगिता मालूम होगी। जिस समय इस सम्मेलनके समासद सौ से अधिक हो जांयगे तब इसका अधिवेशन भी किसी स्थानपर किया जायगा। ऐसे सम्मेलनका समासद होना प्रत्येक अध्यात्म प्रेमीका तो कर्त्तव्य है ही; परन्तु जो अपनी आत्माके समान ही दूसरेके-चींटी, कीड़ी, मकोड़ा, पशु, पक्षी मनुष्यके आत्माको समझते हैं, जिनके हृदयमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्'के महामंत्रका नाद हो रहा है और जिन्होंने परोपकार-

को ही अपने जीवनका उद्देश्य बना लिया है उन्हें भी अवश्य इस सम्मेलनका सभासद बन कर आत्म धर्मकी आवाज भारतमें ही नहीं किन्तु देश देशान्तरोंमें घोषित करना चाहिये।

ऐसी उपयोगी पुस्तकको आप तक पहुंचानेके लिये हम अम्बाला निवासी श्रीयुत लाला रामलालजीको भी विना धन्यवाद दिये न रहेंगे। इस पुस्तकको प्रकाशित करनेका कुल उन्होंने अपनी स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती राधादेवीके स्मरणमें व्यय प्रदान किया है। आपकी धर्मपत्नीको कुटिल काल करालने भारतव्यापी युद्धज्वर (एनफ्लुएंजा)के द्वारा असमयमें ही गत १७ अगस्त सन् १९१८को कवलित कर लिया।

अन्तमें हम फिर पाठकोंसे यह कह विदा लेते हैं कि इस पुस्तकको पढ़ो, विचारो और मनन करो। जिस तत्वका इसमें वर्णन किया गया है उसे हृदयङ्गम कर आत्म कल्याण करो और दूसरोंका कल्याण करना भी अपना आत्मधर्म समझो।

चंदावाड़ी—सूरत. } विनीत—
ज्येष्ठ कृ.३ वि.१९७६ } मूलचंद किसनदास कापड़िया।

स्वर्गीया श्रीमती राधादेवी धर्मपत्नी लाला
रामलालजी, अम्बाला.
(मृत्यु ता० १७ अगस्त सन् १९१८ ई.)

शुद्धाशुद्धिपत्र ।

पत्र	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
भूमिका	९	सप्त	सत्य
३	फुट नोट १ ला.	नितरा भिवान्छसि	नितरामभिवान्छसि
,,	,, २	सुखवर	सुखकर
४	१	एक और	एक
,,	फुट नोट १ ला.	जनापकारम्ः	जनापकारम्
,,	,, २	भवन्तिः	भवन्ति
,,	,, ८	निंदनीक	निंदनीक
७	११	हमें	हम
,,	फुट नोट २ ला.	मनघ	मनघं
८	२	लक्ष्य तो देंग	लक्ष्य देंग
९	फुट नोट १० ला.	२१४९	२१४९ (भगवती आराधना शिवकोटि)
१३	११	घर	घर
१५	१०	जैसे यह	क्योंकि
,,	फुटनोट	१२७१	इस गाथाके पीछे गाथा नं. २१४९ चाहिये जो पत्र ९ पर दी है
,,	फुटनोट ११ ,,	भोगोसे संसार जी.	भोगोंमे संसारी जीव
१५	९	वह	यह
१९	२२	ओर	और

पत्र	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
३१	३	राग द्वेष आदि मान	राग द्वेष मान आदि
३५	२	शरीर में	शरीरसे
३८	फुटनोट ४ ला.	देकं तत्त्व	देकं तत्त्वं
४०	५	अगुरु प्रमेयत्त्व लघुत्व	अगुरु लघुत्व प्रमेयत्त्व
४३	८	दुसरे	दूसरे
४४	१६	विचारों	विकारों
४७	फुटनोट १ ला.	मपरेण	मपरेणा
४८	१२	सामग्रियां	सामग्रियों
,,	१८	अनुभव वला	अनुभव कला
,,	फुटनोट १ ला.	क्यों तेरे	क्या तेरे
४९	२१	शरीरको	शरीरका
५१	२	पर जन वर	पर जान कर
५१	७	तो	उसका
५३	५	अहूं	हूं
,,	९	विचारे की	विचारे कि
५५	१५	वर्णिका	कर्णिका
५६	२	अर्हं सिद्ध	अर्हं, सिद्ध
,,	,,	परमात्माने नमः	परमात्मने नमः
,,	२१	करनेके	करनेके और भी
५८	३	सहित	सहित.........३॥)
५९	१२	निक्षेप	निश्चय

पत्र	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
६१	फुट नोट ४ ला.	देखको	देहको
६२	१२	रहती है	हटती है
६४	१५	उपांग	उपंग
६५	१९	इ के	इसके
६६	५	तयः	तपः
७१	फुट नोट १ ला.	धर्मा हि	धर्मोहि
,,	,, २	हिंसा	हिंस्याः
७२	८	चमड़े	चमड़े
,,	१२	हाय	हाथ
७४	१७	दम	दुम
७८	,,	hand	hands
,,	,,	gaiusay	gainsay
,,	२१.	funetionul	functional ption
,,	२३	concer, consurption;	cancer, consum-
,,	२५	retent	extent
,,	,,	These	There
७९	२३	resstenoe	existence
८०	३	possibale	possible
,,	५	of	of what
,,	९	madical	medical
,,	१३	riery	every
८१	१७	abservent	observant
		ofther ules	of the rules
८३	३	मदिरादान	मदिरापान

पत्र	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
८१	१०	पर	और
८८	फुटनोट २ ला.	बलमिद्रिय	बलमिंदिय
८९	१६	वायु	आयु
९३	१	अभ्यास	अभ्यास
९५	१९	दान	दीन
९६	फुटनोट २ ला.	अमृतवचनादि	अनृतवचनादि
१०२	१८	अवगुण था	अवगुण
१०४	३	वस्तु	ऋतु
१०१	२२	दके	दफे
११४	११	परोपकार	परोपकारक

श्लोकादि

९	१०	तो भी	जैसे बत्ती
१०	१	बहार	बाहर
१२	१	प्येतद्धनि	प्येतद्धीन
१४	२१	त्येजत्	त्यजेत्
१७	१३	मणस्स केइ	मणस्स सक्कंइ
,,	१४	मणयसरे प्पा	मणयसरे अप्पा
२६	९	काशमि	काशमिवामूर्तः
,,	१५	मतधारि	मलधारि
३०	१६	व	वह
३३	१	भवेते	भवेत्

भूमिका।

आरंभ १०-४-१८। चैत्र वदी १४ वीर सं. २४४४ वि. सं १९७४

मनुष्यका जीवन किसतरह सुखरूप बीते यह चिन्ता हरएक मनुष्यको रहा करती है। और इसी सुखमई भावको पानेके लिये उससे जो कुछ बनता है वह उद्योग किया करता है। परंतु ऐसा कौन सा उपाय है जिससे बिना किसी शंकाके उस हरएक उपाय करनेवालेको उस तरह जीवन बितानेका अवसर मिल जाय जिससे वह सुखमई हो इसीको अपने अनुभवसे जहां तक मनन किया गया है और पक्का समझा गया है बताना लेखकका इस पुस्तकमें मुख्य प्रयोजन है।

जो नरनारी सत्य मार्गके खोजी हैं और अपनी भलाईका रास्ता जल्दी और सहजमें मालूम करना चाहते हैं उन्हींके लिये इस पुस्तकके लिखनेका उद्यम है। जो पक्षपातका परदा दूर कर सरल मनसे इस पुस्तकके एक २ वचन पर मनन करेंगे और जो कुछ कहा जाय उसका स्वयं अनुभव करेंगे तो उनको बहुत शीघ्र सच्चे मार्गका पता लग जायगा। और यदि वे उसे आचरणमें लावेंगे उनको उसका फल उसी समय मालूम होने लग जायगा।

भिन्न २ शास्त्रकार क्या कहते हैं इस बातको मुख्यतासे ध्यानमें न लेकर तथा वादविवाद व झगड़ेको छोड़ कर जो बातें इस लेखकके विचार और अनुभवमें जन समुदायके लिये हितकारी और उपयोगी मालूम हुई है उन्हींका इस पुस्तकमें कथन है। इसके कहनेका मतलब सिवाय इसके और कुछ नहीं है कि हरएक मनुष्य अपने आप इन बातोंको विचार सके और उन पर आप स्वतंत्रतासे आचरण करने लगे। क्योंकि यह बात निश्चित है कि मनुष्यका जीवन एक शरीरमें चिरकाल तक रहनेका नहीं है। मरणकी सेजपर सबकी देहोंको गिर पड़ना है। तब मनुष्यके पास जो समय है वह बहुत कीमती है। उसको केवल बातें

बनानेमें, शङ्काशील रहनेमें व किसी पक्षको पकड़ कर झगड़ा करने व मान बढ़ानेमें खर्च करना बुद्धिमान मानवका कार्य नहीं है। चतुर मनुष्य हरएक क्षणको मूल्यवान समझ कर उसमें कुछ क्रिया करना ही उपयोगी व समयकी सफलता करना समझता है।

आचरणसे ही उन्नति और अवनति होती है। अवनतिसे बचकर उन्नति करना जब हरएक मानवके लिये जरूरी है तब ऐसे आचरणमें लीन होनेसे जरा भी नहीं हटना किन्तु उसके लिये तय्यार रहना प्रत्येक मानवका फर्ज है कि जिस आचरणसे अपनी उन्नति हो।

एक यह भी अभिप्राय इस पुस्तकके लिखनेका है कि आजकल बहुतसे लोग भारत व विदेशोंमें अनेक धर्मोंको देखकर ऐसी खोजमें लगे हैं कि क्या कोई भी एक ऐसा धर्म हो सकता है जो सर्वके लिये मान्य हो सके। यह लेखक धर्म उसीको मानता है जिस पर चलनेसे अपनी उन्नति हो। वास्तवमें अपनी उन्नतिका साधन ही धर्म है।

इस पुस्तकमें उन्नतिका साधन वही बताया जायगा जो अपने अनुभवमें आया है इसलिये बहुत संभव है कि वह उपाय जो इस पुस्तकमें बताया जायगा वही वह धर्म हो सके जो सर्वमान्य हो। तथा लेखकको यह भी भरोसा है जो उपाय इस पुस्तकमें बताया जायगा वह एक ऐसा मार्ग मालूम पड़ेगा कि जिसकी शिक्षा सर्व देशके शिक्षालयोंमें जारी करनेमें किसीको कोई संकोच न होगा तथा हरएक छात्र इस मार्गको जानकर बहुत लाभ उठाएगा।

सच्चा स्वरूप जानना मानवका धर्म है इस लिये हरएक मानवको इस पुस्तक पर विचार करना चाहिये तथा यदि कहीं शंका हो तो प्रश्नोत्तर द्वारा निर्णय करना चाहिये।

चंदावाड़ी सूरत, (गुजरात)
चैत्र सुदी ९ वीर सं०
२४४४ वि. सं० १९७५
ता० १९-४-१८

शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी

आत्मधर्म ।

पहला अध्याय ।

हरएक जीव सुख और शांति चाहता है । यह सर्वथा सत्य है ।

किसी भी मनुष्यको लिया जाय अथवा और किसी दूसरेको छोड़कर अपने आपको ही ध्यानमें लेकर विचारा जाय तो पता लग जायगा कि दुःख और क्लेशोंसे हमारा मन दूर रहना चाहता है जब कि सुख और निराकुलतामें रहना पसन्द करता है । * भीतरसे यही भावना रहती है कि हमें कोई शारीरिक व्याधि व मानसिक आधि न हो, शरीरमें कोई रोग, थकावट, आलस्य, निर्बलपना न हो; किन्तु शरीर सदा निरोगी, उद्योगी, सबल और उत्साही बना रहे तथा मनमें कोई चिंता, फिक्र, शोक ताप तथा घबड़ाहट न हो किन्तु मन सदा चिंतारहित, प्रफुल्लित, सुविचारवान तथा साहसी बना रहे। यह भी हम चाहते हैं कि हमारे भीतर क्रोधादि विकार पैदा न हों जिनके उपजनेसे मन क्लेशित होता, बुद्धि बिगड़ जाती, शरीरमें भी निर्बलता आती

---

* दुःखाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥ २ ॥
(आत्मानुशासन, गुणभद्रकृत)

भावार्थ:—यह प्राणी निरंतर दुःखसे डरता है और सुखको चाहता है इससे मैं भी दुःखहारी और सुखकारी शिक्षा देता हूं ।

तथा महान भारी दुःखका अनुभव होता है किन्तु हमारे भीतर शांति रहे, समता रहे, सुविचार रहे, तथा कोई भी ऐसा कारण न पैदा हो जिससे शांति छूटकर अशांति हो जावे। +

यदि विचार करके देखा जायगा तो किसीको भी इस बातसे इनकार नहीं हो सकता कि वह सुख और शांतिको चाहता है।

यही बात जब एक राजाको चाहिये तब एक और दरिद्रीको भी आवश्यक है। यही बात जब एक विद्वानको चाहिये तब एक मूर्ख भी इसीकी चाह करता है। यही बात जब एक तपस्वीको आवश्यक होती है तब एक बहु कुटुम्बी गृहस्थ भी इसीकी इच्छा करता है। यही बात जब एक निरोगीको पसन्द है तब एक रोगी भी इसीकी प्राप्तिकी भावना करता है।

चाहे कोई मानव भारतका हो चाहे चीन, जापान, रूस, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड, आफ्रिका, आस्ट्रेलिया या अमेरिकाका हो,

---

+ कोपःकरोति पितृमातृसुहृज्जनाना-मप्यप्रियत्वमुपकारिजनापकारम्।
देहक्षयं प्रकृतकार्यविनाशनं च। मत्वेति कोपवशिनो न भवन्ति भव्याः।३८।
वैरं विवर्धयति सख्यमपाकरोति। रूपं विरूपयति निन्द्यमतिं तनोति।
दौर्भाग्यमानयति शातयते च कीर्तिं। रोषोऽत्र रोषसदृशो नहि शत्रुरस्ति।४२।
(सुभाषित रत्नसंदोह क्रोधाधिकार, अमितिगतिकृत)

भावार्थ—क्रोध, पिता, माता, मित्रादिकोंका बुरा, उपकारी जनोंका अपकार, देहका क्षय व सोचे हुए कार्यका नाश करता है, क्रोध वैर बढ़ाता है, मित्रताको मिटाता है, रूपको नष्ट करता है, बुद्धि निंदनीक करता है, दुर्भाग्य बढ़ाता है, तथा यशका लोप करता है इससे क्रोधके समान कोई और वैरी नहीं है। भव्य उत्तम पुरुष इस क्रोधके वश नहीं होते।

चाहे कोई मानव सुन्दर हो या असुन्दर, चाहे वह काले रंगका हो या पीत व गोरा हो, चाहे वह ऊंच हो व नीच तथा चाहे वह हिन्दू धर्मी हो चाहे मुसल्मान, यहुदी, जैन, ईसाई या बौद्ध तथा नास्तिक हो प्रत्येक मानवकें भीतर यही भावना निवास करती है कि मुझे सुख और शांति हो।

मानव जातिसे हटकर यदि हम पशु, पक्षी आदिकी जातिकी तरफ दृष्टि डालेंगे तो हमें विदित होगा कि उनको भी सुख और शांतिकी चाहना है। कोई भी पशु भूखा प्यासा रहना व सरदी गरमी सहना व मारा पीटा जाना व कठोर तिरस्कारके वचन सुनना व रोगी होना नहीं चाहता और न मनमें शोक, दुःख, आकुलता तथा पीड़ाके होनेपर अपनेको सुखी अनुभव करता है। भय व चिंता उनके मनको भी बुरी मालूम होती है। वे भी निर्भय, चिंता रहित तथा शांतरूप रहते हुए अपनेको भय भीत, चिंतातुर तथा अशांत रहनेकी अपेक्षा ठीक मानते हैं। भले ही पशु, पक्षी मनुष्योंके समान बात करनेकी शक्ति न रखनेके कारण उनके मनमें जो दुःख होता है उसको कहनेको असमर्थ हों पर यह बात निश्चित है कि जैसे सुख और शांतिके चाहनेवाले मनुष्य हैं ऐसे पशु पक्षी भी हैं।

जो इतने छोटे जंतु हैं कि जिनका दृष्टिमें आना कठिन है वे भी जब कम त्रासित होते हैं तब सुख मानते हैं। देखा जाता है कि जो किसी छोटे जंतुको अपनी अंगुलीके स्पर्श करानेसे दुःखी करनेका प्रयत्न करो तो वह जंतु घबड़ाकर इधर उधर भागता है। उस समय वह भयसे इतना व्याकुल हो जाता है

कि उसे कुछ सूझता नहीं; पर इसी भयके मिटने पर उसकी यह आकुलता मिटनेसे वह पहलेकी अपेक्षा सुखी हो जाता है। यदि विचार किया जायगा तो पता चलेगा कि जितनी २ कषायकी तीव्रता इस जंतुमें होती है यह दुःखी होता है और जितनी २ यह तीव्रता घटती है यह सुखी होता है। सुख और शांति इस अति क्षुद्र आत्माको भी प्यारी लगती है।

इसके आगे यदि हम वृक्ष जातिकी तरफ दृष्टि डालें तो देखनेमें आएगा कि उनमें भी यही हाल है। समाचारपत्रमें एक दफे यह बात देखनेमें आई थी कि एक वृक्ष जबकि वह सोया हुआ था किसीके द्वारा छेड़ा गया तो वह इतना क्रोधमें आगया कि वह बहुत देर तक हिलता रहा, उसके पत्ते चौड़े होगए। यह दृष्टान्त इसी बातको बतलाता है कि क्रोध कषायसे वह महा दुःखी होगया और उसके मिटने पर उसका दुःख शांत हुआ; क्योंकि वृक्षोंमें भी आत्मा है इससे उनमें भी मालूम करनेकी शक्ति है जैसे पशुओं और मनुष्योंमें है इससे जैसे सुख और शांति पशु, पक्षी और मनुष्योंको चाहिये ऐसे ही वृक्षोंको भी जरूरत है। यद्यपि जिनके मन नहीं होता वे कोई बुद्धिपूर्वक तर्क वितर्कके साथ विकल्प नहीं कर सकते पर सुख शांतिकी अवस्था उनके लिये भी हित रूप है। जितना २ गहरा आप विचार करेंगे आपको पता चलेगा कि ऐसा कोई व्यक्ति इस जगत्में नहीं है जो सुख और शांति न चाहता हो। इसीसे यह बात कहनेमें आती है कि यह सर्वथा सत्य है कि हरएक जीव सुख और शांति चाहता है।

परन्तु हरएक पाठकको यह बात अपने आप अपनेमें विचारना चाहिये। जिस बातको हम स्वयं विचार करके अपनेमें निर्णय करेंगे वह हमारे लाभके लिये कार्यकारी होगी।

जब हम चिंताओंके फंदमें फंसते हैं और क्रोधादि कषायोंके झंकोरोंमें झूलते हैं तब हम अपनेको दुःखी और अशांत अनुभव करते हैं; पर जब चिंताएं हटतीं और कषाय शांत होती तब हम अपनेको सुखी और शांत अनुभव करते हैं। हमारा मन वचन काय कषायोंके झगड़ोंसे बिगड़ जाता है। हम इन्हींके कारण परम दुःखी और अशांत हो जाते हैं। पर जब कषायोंका जोर नहीं होता तथा हमारा मन, वचन काय पराधीनतासे बचकर कुछ स्वाधीन रहता है तब हमें स्वयं पहलेकी अपेक्षा अपनेको सुखी और शांत मानते हैं।* अतएव इस सिद्धांतमें किसी प्रकारकी शंका नहीं रह जाती है कि दुःख और अशांति सर्व प्राणियोंको अप्रिय जब कि सुख और शांति सबको प्रिय है।

---

* शस्ताशस्त मनोवचस्समुदयं त्यक्त्वात्मनिष्ठा परः।
शुद्धाशुद्धनयातिरिक्तमनघ चिन्मात्रचिन्तामणिं।
प्राप्यानंतचतुष्टयात्मकतया सार्द्धं स्थितां सर्वदा।
जीवन्मुक्तिमुपैति योगतिलकः पापाटवी पावकः ॥ ६९ ॥
(नियमसार सं० टीका)
तात्पर्यवृत्ति पद्मप्रभमलधारी)

भावार्थ—शुभ अशुभ मन वचन कायादिके मोहको त्याग कर तथा आत्मामें तत्पर होकर, शुद्ध अशुद्ध नयकी कल्पनासे भिन्न, पाप रहित, अनंत दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्यमय चतुष्टयके साथ जीवन्मुक्ति अवस्थाको एक पाप-वनको अग्नि समान दाहक योगी प्राप्त हो जाता है।

दूसरा अध्याय।

सुख और शांति अपने आत्मामें है।

यदि आप लोग इस बातपर पूरा२ लक्ष्य दोगे तो आपको पता चलेगा कि जिस सुख और शांतिको हर एक प्राणी प्यार करता है वह कहीं अलग नहीं है अपने ही अंदर है।

यह हम आगे चलकर बताएंगे कि वह आत्मा जिसने हमारे शरीरमें अपना निवास कर रक्खा है कैसी२ अपूर्व शक्तियोंका स्वामी है। पर यह तो हमें स्वीकार ही होना चाहिये कि हम वास्तवमें मिट्टी या जड़के बने पुतले नहीं हैं किन्तु हम देखने, जानने, समझने, विचारने, इच्छा करने, क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी भावोंको दिखलाने, क्षमा, नम्रता, सरलता, तथा संतोषरूप भावोंको करने तथा कभी दुःख, कभी सुखी हो जानेवाले कोई व्यक्ति हैं जिसको हम आत्मा कहते हैं। इसी हमारी आत्मामें ही सुख और शांति है।

आप यदि विचार करेंगे तो मालूम होगा कि जिस सुखको आप कहते हैं कि खाने, पीने, सोने, बात करने, सैर करने, कपड़ा पहनने, नाटक देखने, फूल अत्तर सूंघने, नाच गाना देखने सुनने, स्त्रियोंसे सम्बन्ध करने आदिसे मिलता है वह सुख आपकी आत्माकी ही कल्पना है। इस सुखको काल्पनिक या पराधीन सुख कहते हैं।

जिस मनुष्यने जिस वस्तुकी तरफ यह भाव कर लिया कि यह मुझे सुखदाई है वह उसे सुखदाई व जिस वस्तुकी तरफ

यह भाव कर लिया कि यह मुझे दुःखदाई है वह उसे दुःखदाई मालूम होती है। इसीसे यह सुख हमारी कल्पनाके ऊपर निर्भर है। तथा यह पराधीन इसलिये है कि जिन २ वस्तुओंके होने व मिलने पर हमने सुख माना है उनका मेल होना चाहिये व जिन २ विघ्नकारी वस्तुओंके न मिलनेको हमने सुख माना है उनका मेल न होना चाहिये। जब ऐसा होगा तब ही हम अपनी कल्पनामें उठे हुए सुखको पा सकेंगे। *

एक मानवने यह कल्पना की कि मूंगकी दाल खानेको मिलेगी तो मुझे सुख होगा, दूसरेने यह कल्पना की कि उरदकी दाल मिलेगी तो सुख होगा। यदि कदाचित्

---

* इन्द्रिय सुख।

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तथा ॥ ७६ ॥

(प्रवचनसार. कुंदकुंदाचार्यकृत)

भावार्थ—जो इन्द्रियोंसे होनेवाला सुख है वह पराधीन है, बाधा सहित है, नाश होनेवाला है, पापबंधका कारण है, तथा चंचल है इसलिये वह दुःख रूप ही है।

अतीन्द्रिय सुख।

अणुवममेयमक्खय-ममलमजरमरुजमभयमभवं च।
एयंतियमच्चंतिय-मव्वाबाधं सुहमजेयं ॥ २१४९ ॥

भावार्थ—आत्मासे उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रिय सुख ऐसा है कि जिसकी कोई उपमा इस जगतमें नहीं मिल सकती। वह अज्ञानीके मनके अगोचर, अमेय है। दुःखके अभावसे अक्षय है, रागादिक मलके अभावसे अमल है, जरासे रहित है, रोग रहित है, संसारका कारण नहीं है, परकी सहायताकी जिसमें जरूरत नहीं है, अंत रहित है, बाधा रहित है तथा स्वाधीन होनेके कारण अजेय है।

दोनों ही मानव एक ही रसोई घरमें जीमने गए कि जिसमें उस दिन मूंगकी दाल ही बनी थी तब इसका फल यह हुआ कि मूंगकी इच्छा करनेवालेने तो सुख माना जब कि उरदकी इच्छा करनेवालेने दुःख माना एक मानवने यह कल्पना की कि चाय पीनेको मिले तो मुझे सुख होगा, दूसरेने यह कल्पना की कि दूध पीनेको मिले तो सुख होगा। कदाचित् उनके सामने चाय ही आई। पस एकने उससे सुख तब दूसरेने दुःख माना। एक मानवने यह कल्पना की कि मुझे बढ़िया रेशमी कपड़ा पहननेको प्राप्त हो तो सुख होगा दूसरेने कल्पनाकी कि मोटा गाढ़ेका कपड़ा ही मुझे मिले तो सुख होगा, यदि कदाचित् बाजारमें मोटा गाढ़ा ही मिला रेशमी बढ़िया कपड़ा न मिला तो एकको दुःख तब दूसरेको सुख मालूम पड़ेगा।

एक मानवने यह कल्पना की कि मुझे मुलायम मखमलका बना गद्दा प्राप्त हो तब ही मुझे सुख होगा, दूसरेने कल्पना की कि एक चटाईका बिछौना होने ही से सुख हो जायगा। यदि कदाचित् चटाई ही प्राप्त हुई मखमली गद्दा न मिला तो एकको दुःख तब दूसरेको सुख प्रतिभासेगा। एक मानवने यह कल्पना की कि मुझे स्वरूपवान् अमुक स्त्रीका संयोग हो तो सुख होगा, दूसरेने कल्पना की कि मुझे कैसी भी स्त्रीका सम्बन्ध हो। यदि कदाचित् स्वरूपवान स्त्री प्राप्त न हुई; किंतु कुरूपवान् स्त्रियां दोनोंको मिलीं तो एक वह जो स्वरूपवान

स्त्रीको चाहता था दुःख मानेगा जब कि दूसरा सुखकी कल्पना कर लेगा।

एक मानवने यह कल्पना की कि मुझे आज बहुत ही मिष्ट बनारसके लंगड़े आम प्राप्त होंगे तो मुझे सुख होगा दूसरेने यह मनमें विचारा कि आज मुझे बम्बईके आम मिले तो सुख होगा। यदि कदाचित् दोनों ही प्रकारके आम न मिले तो दोनों ही दुःख मानेंगे तथा यदि बम्बईके आम मिले और लंगड़े आम न मिले तो लंगड़े आम चाहनेवालेको दुःख जब कि दूसरेको सुख प्रतिभासेगा।

एक मानवने यह कल्पना की कि मुझे आज बहुत ही सुगन्धित गुलाबके पुष्प सूंघनेको प्राप्त हों तो मुझे सुख होगा, दूसरेने कल्पना की कि मुझे चमेलीके पुष्प सूंघनेको होने चाहिये। यदि दोनों ही प्रकारके पुष्प न मिले तो दोनों ही दुःख करेंगे और यदि गुलाबके ही फूल मिले चमेलीके नहीं तो गुलाबको चाहनेवाला जब सुख कल्पेगा तब दूसरा दुःख अनुभव करेगा।

एक मानवने यह कल्पना की कि आज मैं नाटकका तमाशा देखूंगा तो मुझे सुख प्राप्त होगा, दूसरेने यह भावना की कि अमुक वेश्याका नृत्य देखनेमें आवे तो सुख होगा। यदि दोनोंको दोनों वस्तुओंका संयोग न हुआ तो दोनों ही अपनी इच्छाकी अपूर्त्तिमें दुःख मानेंगे। यदि कदाचित् नाटक देखनेके इच्छुकको नाटकका सम्बन्ध मिल गया, दूसरेको वेश्यानृत्यका समागम न हुआ तो पहलेवाला सुख तब दूसरा दुःख मान लेगा।

एक मानवने यह कल्पनाकी कि आज मुझे अमुक व्यक्तिके मनोहर शब्दोंका गाना सुननेको मिले तो मुझे सुख होगा दूसरेने यह इच्छा की कि तबला, हारमोनियम आदि बाजोंके शब्दोंके साथ २ मनोहर गाना सुन पड़े तो सुख होगा। यदि कदाचित् दोनोंकी ही इच्छा पूर्ण न हुई तो दोनों ही दुःख मानेंगे तथा यदि पहलेकी इच्छा पूर्ण हो गई और दूसरेकी न हुई तो पहला अपनेको सुखी जब कि दूसरा अपनेको दुःखी कल्पना करेगा।

इस तरह जो पांच इन्द्रियोंकी इच्छाएं मानवोंमें उठा करती हैं उनकी यदि पूर्ति हो जाय तो ये मानव सुख मानते और जो पूर्ति न हो तो अपनेको दुःखी कल्पना कर लेते हैं। और ये इच्छाएं नाना जातिकी अपनी कल्पना या देखा देखीसे उठती और बढ़ती जाती है आज हमने देखा कि अमुक मनुष्य सुवर्णकी घड़ी लगाए हुए है बस हमारे भीतर भी सुवर्णकी घड़ीकी इच्छा जग उठती है। आज हमने किसीको अनेक मिठाइयोंको खाते देखा बस हमें भी मिठाई खानेकी इच्छा उठ आती है। इस तरह बहुतसी नई इच्छाएं देखा देखी उठ पड़ती हैं। इन्द्रियोंके विषयोंको भोगनेकी इच्छाओंके सिवाय हमारे मनमें और बहुत सी कल्पनाएं क्रोध, मान, माया व लोभ कषायके वश हो उठती हैं जिनकी अपूर्तिमें हम दुःख तथा जिनकी पूर्तिमें हम सुख कल्पना कर लेते हैं।

यदि किसीने द्वेषबुद्धिवश किसीको अपना शत्रु समझा है बस उसका मन यही कल्पना करता है कि इसकी हानि हो व इसका नाश हो तो मुझे सुख होगा। यदि कदाचित उसका

कुछ बिगाड़ न होकर उसकी बढ़ती हुई तो यह जानकर अति दुःखी होता है। यदि शत्रुका कुछ बुरा हुआ तो यह जान कर बहुत सुखी होता है। यदि किसीने मान कषायवश यह कल्पना की कि मेरा सन्मान हो तथा मेरे सामने दूसरोंकी हीनता रहे उच्चता न प्रगटे इसीसे ही मुझे सुख होगा तब यदि उसका अपमान हो जाय व उसकी अपेक्षा दूसरोंकी उच्चता हो जाय तो यह महा दुःखी होता है और यदि सन्मान हो व आप ऊंचा झलके तो अपनेको सुखी मानता है।

यदि किसीने मायाचार मनमें ठानकर यह कल्पना की कि इसको बातोंमें वश करके अपना स्वार्थ साध लूं, अथवा इसको अपने शाहपनेका विश्वास दिलाकर इसका माल अपने पास धर लूं और फिर इसको न दूं ऐसा करूं तो मुझे सुख होगा। यदि वह अपने इस विचारमें सफल हो गया तो वह अपनेको सुखी और यदि सफल न हुआ व उसका मायाचार दूसरोंको झलक गया तो यह अपनेको दुःखी कल्पना कर लेगा।

यदि किसीने लोभकी तीव्रतासे यह वांछा की कि राज्य मेरे आधीन हो जाय व अमुक लक्ष धन प्राप्त हो जाय तो मुझे सुख होगा। बस इस कल्पनाकी पूर्ति पर सुख व अपूर्ति पर दुःख कल्पना करेगा। इस तरह मनके भीतर कषायकी कालिमासे उठनेवाले अनेक विकल्प सुख प्राप्तिकी गरजसे उठते हैं। यह मोही जीव उन विकल्पोंके अनुसार कार्य होनेमें सुख व न होनेमें दुःख मान बैठता है। कल्पनाओंकी नींव पर जिन २ को सुखकी भावना होती है उन्हें प्रायः बहुत अधिक दुःखोंका अनुभव करना पड़ता

है। याद रहे कि यह दुःखका अनुभव भी काल्पनिक ही है—माना हुआ ही है।

इसका कारण यह है कि कल्पना करनेवालेके सुखका आधार उन पर—पदार्थोंके ऊपर है जिनको यह अपनी कल्पनाके अनुसार होना, कायम रखना तथा नाश चाहता है। किंतु पर पदार्थोंका परिणमन इसके आधीन नहीं। उनका रहना, वर्तना, कायम रहना व बिगड़ना उनहीके आधीन है। जैसे किसीने किसी स्त्रीके सम्बन्धमें सुख कल्पा है। यह बात इसके आधीन नहीं कि वह स्त्री सदा तन्दुरस्त रहे, कभी बीमार न हो व वह इसके जीवन तक जीती रहे, संभव है कि वह जल्दी मर जावे तब इसके दुःखका अनुभव कितना होगा सो उसीके मनसे पूछना चाहिये। इसी तरह यदि किसीने पुत्रोंके ऊपर अपना सुख कल्पा है, यदि वे दुराचारी हों व मर जाएं तो इस व्यक्तिको बहुत अधिक दुःख होगा। यदि किसीने एक लक्ष धनके स्वामित्व रहनेमें सुख कल्पा है, यदि कदाचित् धन नष्ट हो जाय तो उसके दुःखका पार न रहेगा। यदि किसीने अपने इस शरीरके साथ सदा स्थित रहनेमें व इसके सदा बलिष्ठ रहनेमें सुख माना है, यदि कदाचित् वह शरीर अस्वस्थ हो जाय या नष्ट होता हो तो इस प्राणीको महान दुःख होगा। इसी तरह दूसरोंके रहने, न रहनेके आधार पर जो मोही लोगोंका माना हुआ सुख और दुःख है सो सर्व काल्पनिक व मिथ्या है।

इस काल्पनिक सुखसे इस प्राणीको कभी तृप्ति नहीं

होती। + यदि हमारी एक कल्पना पूरी हो जाती तब हममें दूसरी तृष्णा रूपी कल्पना पैदा हो जाती है इस तरह मरण होनेके समय तक तृष्णाकी कल्पनाएं तो बढ़ती हैं पर पदार्थोंको इन्द्रियोंके द्वारा भोगनेकी शक्ति शरीर व उसकी इन्द्रियोंमें कम होती जाती है। जिसका अंतिम फल यह होता है कि निराशताको साथमें लिये हुए प्राणी मर जाते हैं।

काल्पनिक सुख जब मिथ्या है तब सच्चा सुख क्या है? ऐसा प्रश्न होनेपर यह कहना होगा कि सच्चा सुख आत्माका स्वभाव है तथा शांति भी आत्मामें स्वभावसे ही मौजूद है। जैसे यह हम अनुभव करते हैं कि जब हमको क्रोधकी तीव्रता होती है तब मन क्लेशित होता है प्रत्यक्ष दुःख अनुभवमें आता

+ जीवस्स णत्थि तित्ती। चिरंपि भोएहि भुंज माणेहिं।
तित्तीय विणा चित्तं-उव्वूरं उव्वूदं होई ॥ १२६४ ॥
जह इंधणेहि अग्गी-जह व समुद्दो णदी सहस्सेहिं।
तह जीवा णहु सक्का। तिप्पेदुं कामभोगे हिं ॥१२६५॥
भोग रदीए णासो। णियदो विग्घाय होंति अदि बहुगा।
अज्झप्परदीएसु-भाविदाए ण णाओ ण विग्घोवा ॥१२७१॥
(भगवती आराधना, शिवकोटिकृत।)

भावार्थ—इस जीवके चिरकालसे भोगे हुए भोगोंसे भी तृप्ति नहीं होती, तृप्ति बिना चित्त उद्वेग रूप रहता है और उड़ा २ फिरता है। जैसे ईंधनसे अग्नि और हजारों नदियोंसे समुद्र तृप्त नहीं होता उसी तरह काम भोगोंसे संसारी भी तृप्त नहीं हो सके। भोगोंमें लीन होनेसे नाश होता है और निश्चयसे बहुत विघ्न आते हैं; किन्तु भले प्रकार अनुभव किया हुआ जो आत्मीक सुख है उसमें न नाश है और न विघ्न है।

है तथा क्रोधके होते हुए जैसे अंतरंग विकारी होता है ऐसा पूर्ण शरीर भी विकारी हो जाता है। मुखकी आकृति बिगड़ जाती है। क्रोधके आवेशसे ऐसा आताप और संकट होता है कि जब कुछ क्रोध शांत होता है तब यह स्वयं अनुभव करता है कि मेरा बड़ा भारी संकट टला। जो दुख क्रोधके आवेशमें होता था वह मिट जाता है। इसी तरह जब कभी मान, माया लोभ किसीकी भी तीव्रता होती है मन मैला और आकुलता रूप हो जाता है। जैसे क्रोधके आवेशमें अंतरंग विकारी होनेके साथ शरीर विकारी हो जाता है ऐसे ही मान माया या लोभकी तीव्रतामें दशा होती है, शरीरकी आकृति बिगड़नेके साथ मुखकी शोभा भी खराब हो जाती है। और जब ये विकार हटते हैं तब शांति और सुख मालूम होता है। जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ तथा उन्हींके साथी काम, भय, हास्य, शोक, घृणा आदि विकारोंके होनेसे शरीर और मनमें विकार होते हैं वैसे ही इन कषायोंके उद्वेगसे शरीरमें निर्बलता होती है। रुधिर सूखता है। यह सब विकारी भाव वास्तवमें आत्माके स्वभाव नहीं हैं क्योंकि जो स्वभाव होते तो सबको और अपनेको दोनोंको प्रिय मालूम होते, परन्तु यह कषाय सुख और शांति नहीं देते इसीलिये अप्रिय मालूम होते हैं तथा इसीसे ये आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं।

विरुद्ध इसके जिस किसीके जिस समय क्रोध, मान, माया या लोभ कषायोंकी अत्यन्त मंदता होती है उस समय उसके मनको शांति और सुखका स्वयं अनुभव होता है। तथा शांतताका

होना जैसा अपनेको पसन्द है वैसा सबको पसन्द है इससे यह कहना होगा कि शांतता या वीतरागता आत्माका स्वभाव है। और जहां २ शांति या वीतरागता होती है वहां २ सच्चा सुख भी झलकता है।

सुख भी आत्माका स्वभाव है यह बात अच्छी तरह मालूम हो जायगी जब हम उन दृष्टान्तोंको देखेंगे जिनमें मानव किसी भी भले परोपकारके कामको विना किसी इच्छाके करते हैं और तब आनन्द अनुभवमें आता है। यही आनन्द उस सच्चे सुखका झलकाव है जो आत्माका स्वभाव है और सदा आत्मामें रहता है। मार्गमें किसी अन्धे भूखे मनुष्यको देखकर सच्ची अनुकम्पा चित्तमें लाकर जो उसको अन्नादि भोजन देता है वह उस समय एक तरहका ऐसा आनन्द मालूम करता है जो काल्पनिक इन्द्रिय जन्य नहीं होता है। यही आनन्द उस सच्चे सुखका छोटा सा नमूना है जो आत्मामें सदा विद्यमान है।

इसी तरह कोई मनुष्य भारतमें स्त्रियोंके अन्दर भारी अशिक्षा देखकर चित्तमें दया रखकर उनमें शिक्षा-प्रचारार्थ लक्ष दो लक्ष रुपयेका जब दान करता है तब उसके चित्तको एक प्रकारका आनन्द होता है। यही आत्माके गुण—सच्चे सुखका झलकाव है। यदि कोई मनुष्य नदीमें डूब रहा है उस समय यदि किसीने अपने शरीरका मोह छोड़कर उस डूबते हुए को बचा लिया तो उसके चित्तमें एक प्रकारका सुख प्रगट होता है।

यदि कोई मनुष्य एक चित्त हो किसी वैराग्यमयी भजनके कहनेमें अपनेको ऐसा लीन कर दे कि उसका मन और पदार्थोंसे

मोह छोड़ बैठे तो उस समय स्वभावसे ही सुख मालूम पड़ेगा।
इन ऊपर लिखे हुए दृष्टान्तोंमें जो २ सुख अनुभवमें आया है
वह स्वभावसे उठा है यह कोई काल्पनिक या मिथ्या सुख नहीं
है। तथा यह सुख किसी इन्द्रियके विषयभोग रूप भी नहीं है।
क्योंकि ऊपर लिखे काम करते हुए अर्थात् दान, परोपकार व
भजन करते हुए न तो स्पर्श इन्द्रिय किसी स्पर्शका भोग करती
है, न रसना इन्द्रिय किसी स्वादिष्ट भोजनको स्वादती, न घ्राण-
इन्द्रिय किसी सुगंधित पदार्थको सूंघती, न चक्षु इन्द्रिय किसी
रूपको देखकर मुग्ध होती और न कर्ण इन्द्रिय किसी गान आदिके
रागको सुनती है। इन पांचों इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला यह
सुख नहीं है और न यह मनकी किसी कल्पनासे पैदा हुआ
है। यह सुख वास्तवमें स्वभावसे ही पैदा हुआ है; इसीसे यह
कहना पड़ेगा कि यह सुख आत्माका स्वभाव है।

इस बातको विचार करते हुए कि सुख जब आत्माका
स्वभाव है तब हमें हर समय क्यों नहीं प्राप्त होता? ऊपर कहे
हुए कामोंके करने पर ही हमें क्यों अनुभवमें आया है? इसका
समाधान यह है कि मोह और अज्ञानसे हमारा सुख गुण प्रच्छन्न
हो रहा है या उसका विपरीत परिणमन हो रहा है। जब जितने
अंशमें मोह और अज्ञान हटता है तब उतने अंश वह सुख गुण
प्रगट होता है। वास्तवमें जब आत्माकी शक्तियोंको पूर्ण प्रगट
होनेसे रोकनेवाले आवरणोंका अभाव हो जाता है तब वह सुख
गुण पूर्णतया प्रकाशित हो जाता है।

इसलिये इस बातमें जरासी भी शंका नहीं शेष रह जाती है कि सुख और शांति अपने आत्मा में ही है।

जब यह बात निश्चित है तब हरएक मानवका धर्म है—फर्ज है—कर्तव्य है कि वह सुख और शांतिके प्रयोजनसे अपने आत्माकी ओर जावे अर्थात् उसमें प्रेम करे—उसके निर्मल गुणोंमें लीनता करे।

यहां पर एक शंका यह हो सकती है कि जब इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला अर्थात् भोजन पान स्पर्श आदिका सुख काल्पनिक या मिथ्या है तथा आत्मासे उत्पन्न होनेवाला ही सुख सच्चा है तब फिर जगतके लोगोंको क्यों तो धन कमाना चाहिये और क्यों अनेक पदार्थोंका संग्रह करना चाहिये ? इसका समाधान यह है कि सुख और शांतिके अभिप्रायसे तो हमें अपने आत्माकी ही ओर जानना चाहिये कभी भी इन्द्रियोंके विषय भोगसे सुख होता है ऐसी कल्पना करके तृष्णा और आकुलताके फन्देमें न फंसना चाहिये। तथा जब एक गृहस्थ मानवको आत्माके सिवाय अपने शरीर व अपने कुटुम्बियोंके शरीरोंकी रक्षा करनी है। तथा बालक बालिकाओंको शिक्षा प्राप्त कराना है उनकी शादी ब्याह करना है व जगतमें जो मानव या पशु दुःखमें हों उनके साथ परोपकार करके उनका दुःख निवारण करना है इत्यादि जीवनकी अनिवार्य्य आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेके लिये मानवका यह दूसरा फर्ज है जिसको वह बनावे। आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये नीतिपूर्वक व्यापार आदि व अन्य पदार्थोंका संग्रह "आत्मामें ही सुख है" इस विश्वासको पा-

रखनेवाला मनुष्य केवल अपना एक व्यवहार कर्तव्य जानकर करता है। इनसे इन्द्रियोंका स्वार्थ साधन करूंगा यह भावना नहीं करता है। आत्मज्ञानीका लौकिक उन्नतिमें तल्लीन होना इन्द्रियोंके विषयोंकी पुष्टिके अभिप्रायसे नहीं होकर परोपकारार्थ व अपनी खास आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये होता है।

विचारवान मनुष्य सुख व शांतिकी इच्छासे तो अपने आत्माका ही विचार करेगा परन्तु जिस स्थितिमें होगा उस स्थितिके अनुकूल व्यवहार कार्य्य करेगा। वह काल्पनिक सुखको सुख नहीं मानेगा। उसके श्रद्धानमें यह बात दृढ़तासे जमी रहेगी कि सुख और शांति अपने आत्मामें ही है।

प्रिय पाठको! आप इस बात पर ज्यों २ लक्ष्य देंगे आपको अच्छी तरह अनुभव हो जायगा कि सुख और शांति दूसरी वस्तुओंकी आधीनतामें नहीं है। यह अपने ही पास है। अपने ही आत्माका स्वभाव है यह बिलकुल स्वाधीन है। अज्ञानतासे हमने पराधीनतामें सुख मान लिया है।

बस आप जो अपने इस नर जन्मको सफल करना चाहते हैं तो आप इस बात पर अच्छी तरह विश्वास करो कि सुख और शांति हमारी आत्मामें ही है।

तीसरा अध्याय।

सुख और शांतिकी प्राप्तिका उपाय।

प्रियपाठकोंको मालूम हो कि आत्माके सत्स्वरूप पर विश्वास लाने और उसका ध्यान करनेसे वह सुख और शांति जो अपने ही आत्मामें है स्वयं प्राप्त होने लगती है। जो सुख और शांति हमारे आत्मामें है उसका लाभ हमको जो अभी नहीं हो रहा है वह होने लगे, इसके लिये हमको यह करना होगा कि हम अपने ही आत्माके सच्चे स्वरूपको पहचानें, उस पर पूर्ण विश्वास लावें और उसका ध्यान करें।

क्योंकि यदि केवल नाम मात्र आत्माका हमने लिया पर उसके सच्चे स्वरूपको न जाना तो जैसे आम्र फलका नाम मात्र लेनेसे पर उसको न पहचाननेसे हम कभी आमको नहीं पा सकते और इसी लिये आम्र फलमें कैसा मिष्ट स्वाद है इसका अनुभव भी नहीं कर सकते इसी तरह हम आत्माको कभी पा नहीं सकते। बिना पहचाने हमको उसका विश्वास भी क्या होगा और हम उसका ध्यान भी क्या कर सकेंगे? इसमें तो किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सकती कि जो रस जिस वस्तुमें होता है उस रसका स्वाद उस वस्तुको स्वाद लेते हुए अवश्यमेव आता है इसी तरह जो सुख और शांतिका रस आत्मामें है उसका स्वाद आत्माके सच्चे स्वरूपमें अपना मन जोड़नेसे अवश्य प्राप्त होता है।

अब हमको यह बतलाना चाहियें कि हम आत्माका स्वरूप किस तरह समझें क्योंकि वह कोई ऐसी वस्तु तो नहीं है कि जिसको हम आंखसे देखकर व हाथोंसे छू कर मालूम कर लें। वह तो सूक्ष्मसे सूक्ष्म जो परमाणु है उससे भी अतिशय सूक्ष्म है। क्योंकि उसमें वह वर्ण, गंध, रस, स्पर्श भी नहीं है जो परमाणुमें सदा पाए जाते हैं। इसी लिये आत्माको आकाशके समान अमूर्तीक कहते हैं। इस अमूर्तीकका अर्थ यही समझना चाहिये कि उसमें ऐसा कोई वर्णादि नहीं है, न कोई ऐसा आकार है जैसे अचेतन जड़ पुद्गलके परमाणु और उसके बने नाना प्रकारके छोटे व बड़े स्कन्धोंमें होता है। तथा इसी कारण इसको निराकार भी कहते हैं। परन्तु इस निराकारपनेका यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि आत्मा कोई आकार नहीं रखता हुआ शून्य है। जिस २ वस्तुकी सत्ता इस जगतमें होगी वह आकाशके भीतर रहती हुई थोड़े या बहुत आकाशको अवश्य घेरेगी। जो आकाशके स्थानको घेरने लायक आकार नहीं रखती है वह कोई वस्तु ही नहीं है किन्तु वह अवस्तु या शून्य कहलाती है अर्थात् वह कोई भी वस्तु नहीं होती है। अतएव कोई न कोई आकार रखनेके कारण इस आत्माको साकार भी कहते हैं।

क्योंकि हरएक वस्तुकी पहचान उसके लक्षणके द्वारा होती है। इसलिये आत्माकी पहिचानके लिये भी लक्षणकी आवश्यकता है। लक्षण उस प्रगट गुणको कहते हैं जो वस्तुमें सदा पाया जावे व जिससे हम उस वस्तुको औरोंसे अलग कर सकें। जैसे एक कुटुम्बमें १० मनुष्य हैं, एक मनुष्य जिसका नाम रामचन्द्र है

गोरा है और बाकी सब स्त्री पुरुष काले वर्णके हैं। तब उस कुटुम्बकी अपेक्षा रामचन्द्रकी पहचान गोरापना हो जायगी। यदि हमें ऐसे आदमीके द्वारा रामचन्द्रको बुलाना है जो रामचन्द्रको नहीं पहचानता है तो हम उस आदमीसे कहेंगे कि उस घरमें जिसका शरीर गोरा है वह रामचन्द्र है उसे बुला लाओ तो वह सब काले रंगवालोंके बीचमें गोरे रंगवालेको देखकर तुर्त पहचान लेता है कि यही रामचन्द्र है और उसे बुला लाता है। लक्षणमें केवल एक ही मुख्य गुणको लिया जाता है जब कि उस वस्तुमें और भी बहुतसे गुण रहते हैं। जैसे रामचन्द्रमें गोरापना होनेके सिवाय उसमें ठिगनापना, भारीपना, चिकनापना आदि और भी बहुतसे गुण हैं। लक्षण निर्दोष वही होता है जिसमें तीन दोष न हों–(१) अतिव्याप्ति, (२) अव्याप्ति, और (३) असंभव।

जो लक्षण कहा जाय वह उस वस्तुमें व उस जातिकी सब वस्तुओंमें व्यापक होना चाहिये अर्थात् पाया जाना चाहिये तथा अन्य जातिकी व अन्य वस्तुमें न पाया जाना चाहिये। यदि अन्यमें भी पाया जायगा तो उसको अतिव्याप्ति दोष कहेंगे। और यदि उस वस्तुमें कभी हो कभी न हो व उस जातिकी सब वस्तुओंमें न पाया जावे तो उसमें अव्याप्ति दोष आएगा। और यदि वह लक्षण ऐसा असंभव हो कि इस वस्तुमें प्रत्यक्ष व अनुमान किसी भी तरह संभव न हो तो वह लक्षण असंभव दोष सहित हो जायगा।

इन कहे हुए तीन दोषोंसे रहित लक्षण यदि हम आत्मा

पदार्थका करें तो हमको कहना होगा कि इसका लक्षण चेतना (देखना जानना Consciousness) है।

जितने भी सचेतन या प्राणधारी पदार्थ जगतमें हैं उन सबमें यह चेतना पाई जाती है तथा उनके सिवाय मृत या जड़ पदार्थोंमें नहीं पाई जाती है इससे इस लक्षणमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष नहीं हैं। और न यह असंभव है क्योंकि यह चेतना अनुभवमें आ रही है। इसलिये जहां २ हम यह बात मालूम करें कि इन्द्रियोंके द्वारा छूकर, स्वाद लेकर, सूंघकर, देखकर व सुनकर जाना जाता है व मनद्वारा अनेक विचार किये जाते हैं तथा मैं क्रोधी, मानी, लोभी, कामी हूं व कभी क्षमावान, कोमल, संतोषी व शांत हूं ऐसी कल्पना उठती हैं वहां २ हमको यह निश्चय करना चाहिये कि चेतना विद्यमान है। यह चेतना जिसमें है व जिसके आधार यह पाई जाती है वह आत्मा है। क्योंकि जो कोई गुण होता है वह किसी गुणी या द्रव्य आधारके विना नहीं पाया जा सकता। इसलिये चेतना लक्षण या मुख्य गुणको रखनेवाला जो कोई है वही आत्मा है। *

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो,
नामूर्त्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ॥
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितंनाव्याप्यतिव्यापि वा ।
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्व्यतां ॥ ८॥

(समयसार कलश, अमृतचंद्रकृत)

भावार्थ—अजीव दो तरहके हैं एक वर्ण आदि सहित, दूसरा वर्ण आदिसे रहित इसलिये जगतमें जीवके स्वभावको अमूर्तीक रूपसे उपासना नहीं की जाती है। ऐसा विचार कर विवेकी जीवोंको जीवके स्वभावको

इसी ही चेतना लक्षणको रखनेके कारण यह आत्मा उन सर्व पदार्थोंसे भिन्न है जिसमें चेतना या देखना जानना नहीं पाया जाता है। इसीसे चेतनारहित पदार्थोंको अनात्मा या अजीव कहते हैं।

यहां यह भी जान लेना आवश्यक है कि इस जगतमें अजीव पदार्थ कौन२ हैं। क्योंकि तब हम कह सकेंगे कि जगतमें जो ये पदार्थ हैं जिनमें चेतना नहीं है वे अपने स्वरूपसे भिन्न हैं।

यदि हम अनुभवसे विचार करें तो हमें प्रत्यक्ष प्रगट होता है कि हमारा, शरीर, हमारे कपड़े, हमारे गहने, हमारी क़लम, हमारी दावात, हमारा काग़ज़, हमारी टेबुल, हमारी कुरसी, हमारा कमरा, हमारा मकान, हमारी पुस्तकें, हमारे बरतन आदि जो २ पदार्थ स्वभावसे जड़ हैं जिनमें चेतनाका कार्य नहीं झलकता है, सब जड़ हैं परन्तु उनमें वर्ण कोई न कोई मालूम होता है। उनमें स्पर्शका भी गुण है। हम उनको छूकर मालूम कर सकते हैं कि वे ठंडे हैं या गरम, चिकने हैं या रूखे, हलके हैं या भारी, कोमल हैं या कठोर। यदि हम उनको अपनी नाकसे सूंघे तो हमको कोई न कोई गंध अवश्य मालूम पड़ेगी कि अमुक पदार्थ किस प्रकारकी गंधको रखनेवाला है वह सुगंध है या दुर्गंध है। यदि हम उसी पदार्थके खंड या चूरेको अपनी जबान

नित्य चेतनाका प्रगट ग्रहण करना चाहिये क्योंकि चेतना ऐसा लक्षण है जिसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष नहीं आते जब कि अमूर्तीक लक्षण करनेमें अतिव्याप्ति दोष आता है तथा रागादि लक्षण करनेमें अव्याप्ति दोष आता है क्योंके ये रागादि आत्मामें सदा नहीं झलकते।

पर रक्खें हमको पता लगेगा कि उसमें कोई न कोई स्वाद अवश्य है; चाहे वह तीखा हो, मीठा हो, खट्टा हो, चरपरा हो या कषायला या अन्य कोई मिश्रित स्वाद हो। यदि हम उसको आंखसे देखें तो हम उसके रंगको देखेंगे कि वह सफेद है, काला है, नीला है, लाल है, पीत है, या अन्य कोई मिश्र रंग है। इस तरह जो जो पुद्गल या जड़ पदार्थ मोटे २ दीख पड़ते हैं उन सबमें स्पर्श रस गंध, वर्ण प्रत्यक्ष अनुभव गोचर होंगे। यद्यपि जगतमें ऐसे भी बहुतसे पुद्गलके स्कंध हैं जो हमारी इन्द्रियोंके गोचर नहीं हैं तो भी उनमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण प्रगट या अप्रगट रूपसे पाया जाता है। पृथ्वी, जल, पवन, अग्नि शब्द, पुद्गल स्कंध हैं। जगतमें परमाणुओंके स्कंध अनेक तरहके बन जाते हैं। कोई सूक्ष्म कोई स्थूल होते हैं। इस पुद्गल और जीवकी चार दशाएं प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही हैं। इनका चलना, चलते चलते रुक जाना, अवगाह पाना और समय २ हालतोंको बदलना या परिणमना। जैसे आम्रफल कल, वृक्षमें हरा देखा था आज वह पीत हो गया है। इन अवस्थाओंके होनेमें उपादान या मूल कारण तो अपने अपने लिये यह पुद्गल और जीव ही हैं पर कोई साधारण निमित्त भी चाहिये। क्योंकि विना निमित्तके कोई काम नहीं होता। इसलिये कुछ ऋषियोंने इन चार कार्योंके लिये भी चार मूल द्रव्य बतलाए हैं। चलनेमें उदासीन सहकारी कारण एक जगद्व्यापी अमूर्तीक धर्म द्रव्य है। ठहरनेमें उदासीन सहकारी कारण एक जगद्व्यापी अमूर्तीक

अधर्म द्रव्य है, अवगाह देनेमें उदासीन सहकारी कारण अमूर्त्तीक आकाश द्रव्य है। परिणमनेमें उदासीन सहकारी कारण अमूर्त्तीक काल द्रव्य है।

इस तरह कार्यके अनुमानसे कारणका अनुमान होता है। ऐसा जानकर ये चार द्रव्य माने जाते हैं। इनका अस्तित्व यद्यपि हमारे इन्द्रियोंको प्रत्यक्ष प्रगट नहीं है पर अनुमानसे समझ कर जानना चाहिये। यहां प्रयोजन कहनेका यही है कि यह आत्मा या जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पांच अजीव द्रव्योंसे भिन्न है। *

आगास काल पुग्गल धम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ॥ १२४ ॥
(पंचास्तिकाय, कुंदकुंदाचार्य)

भावार्थ—आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्ममें जीवके गुण नहीं हैं इसलिये उनके अचेतनपना कहा गया है जब कि जीवके चेतनपना है।

उवभोज्ज मिंदिएहिं य इंदिय काया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाण ॥ ८२ ॥ (पंचा० कुं०)

भावार्थ—जो इन्द्रियोंके द्वारा भोगने योग्य हैं, इन्द्रिय, शरीर, मन और कर्म तथा जो कुछ और मूर्त्तीक जड़ है उस सबको पुद्गल जानो।

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीव पुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥८५॥ (पंचा. कुं.)

भावार्थ—पानी जैसे इस लोकमें मछलियोंको गमन करनेमें कारण है तैसे यह धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलोंके गमन करनेमें कारण है ऐसा जानो।

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं।
ठिदि किरिया जुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥८६॥ (पंचा. कुं.)

हम अपने साथ शरीरको देखते हैं यह भी पुद्गल जड़ अजीव है इससे यह आत्मासे भिन्न है। हमारी जो भाषा निकलती है वह भी पुद्गल अजीव है इससे यह आत्मासे भिन्न है। हमारे मनमें अनेक विकारी परिणाम होते हैं—कभी हम किसीको अच्छा जानकर राग करते हैं, कभी हम किसीको बुरा जानकर द्वेष करते हैं, कभी हम यह अहंकार कर लेते हैं कि हम रूपवान हैं, बलवान हैं, धनवान हैं, विद्वान् हैं, अधिकारी हैं, बड़े कुलीन हैं इत्यादि। कभी हम इष्ट वियोगसे पीड़ित हो आर्त्तभाव करते हैं, कभी हम अनिष्ट संयोगको पाकर उसके मेटनेके विचारमें पड़ जाते हैं, कभी किसी रोगादिकी पीड़ा होनेपर हम रोगी हैं इस चिंतामें डूब जाते हैं, कभी हम हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रहके कार्योंको करते, कराते व उनकी अनुमोदना करते हुए हर्ष मनाया करते हैं, कभी हम क्रोधके आवेशमें आकर अत्यन्त

भावार्थ—जैसे धर्म द्रव्य है वैसे ही अधर्म द्रव्यको जानो ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोंको ठहरनेमें निमित्त कारण पृथ्वीके समान यह अधर्म द्रव्य है।

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तहय पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोये हवदि आयासं ॥९०॥ (पंचा. कुं०)

भावार्थ—जो सर्व जीवोंको, पुद्गलोंको तथा और सर्व द्रव्योंको स्थान देता है वह आकाश द्रव्य है।

सब्भाव सभावाणं जीवाणं तहय पोग्गलाणं च।
परियट्टण संभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो ॥२३॥ (पंचा० कुं०)

भावार्थ—अपने अस्ति स्वभावको रखनेवाले जीवों, पुद्गलों और अन्य द्रव्योंको बदलनेमें जो कारण है वह नियमसे काल द्रव्य कहा गया है।

क्लेश रूप परिणाम कर लेते हैं, कभी हम मानके अश्व पर आरूढ़ हो अपनेसे जो छोटे हैं उनको जीर्ण तृणके समान जानने लगते हैं, कभी हम मायाचारका जाल बिछा कर दूसरोंको झूठा विश्वास कराना चाहते हैं। कभी हम लोभके आवेशमें आकर न्याय अन्यायके विचारको तज कर चाहे जिस तरह इच्छित वस्तु मिले ऐसी इच्छा कर लिया करते हैं, कभी हम करुणा भाव लाकर दुःखियोंके दुःख निवारणका सोच व यत्न किया करते हैं, कभी हम परोपकारताके भावको जगाकर अपनी शक्तियोंको दूसरोंके कामके लिये खरचने लग जाते हैं, कभी हम क्रोधी पर क्षमा, यथायोग्य विनय, सरलतासे वर्तन, व सत्य व्यवहारका विकल्प किया करते हैं इत्यादि परिणामोंके संकल्प विकल्प करना और इन विकल्पोंमें कभी दुःखी और कभी सुखी होना मनकी अनेक कल्पनाएं हैं। जो मन, आंख, नाक, कानके समान जड़ पुद्गलसे बना है तथा इसमें जो यह कल्पनाएं उठती हैं वे सब विचार हमारी आत्माका स्वभाव धर्म नहीं है क्योंकि ये सब होती हैं और मिटती हैं जब कि हमारे आत्माका स्वभाव सदा एकसा निर्विकार रहनेका है अतएव ये सब मनके विकल्प भी हमारे आत्मस्वभावसे भिन्न हैं। इन जगतसे हमारा मन मोह कर रहा है इसीसे यह सब विकल्पोंकि इन्द्रजाल हैं। जब मोह ही आत्माका यथार्थ स्वभाव नहीं तब ये सब विकल्प आत्माके कैसे हो सक्ते हैं? यदि मोह आत्माका स्वभाव माना जाय तो यह कभी भी आत्मासे जुदा न होवे। तथा मोह रहित किसीके अनुभवमें न आवे और मोहकी दशामें आकुलता न होकर अतीन्द्रिय आनन्द भी झलके; परन्तु यह सब बात नहीं है।

मोह आत्माका स्वभाव नहीं क्योंकि भेद विज्ञानी अनुभवी पुरुषोंको मोह राग द्वेषसे पृथक् आत्माका अनुभव होता है तथा इनके होते एक प्रकारकी आकुलता व चिंता रहती है। अतीन्द्रिय सुखका तो वहां नाम ही नहीं है इसीसे मोह आत्माका धर्म या स्वभाव नहीं ×। हमें आत्माका वास्तविक स्वरूप जो कुछ है उसे ही ध्यानमें लेना है क्योंकि सुख और शांति उसीमें ही है। आत्माके सत् स्वरूपका विश्वास और मनन ही सुख और शांतिकी प्राप्तिका उपाय है। आत्माका सत् स्वरूप शुद्ध निर्विकार है अर्थात् मोह राग द्वेषके निमित्तसे झलकनेवाले भावोंसे भी आत्माका स्वभाव दूर है जैसे स्फटिक मणिके काले हरे व लाल ढांकके लगनेसे जो काला हरा व लालपन दीखता है सो स्फटिकका स्वभाव नहीं क्योंकि वह तो स्वच्छ सफेद कांतिवाली है किंतु उसमें इनका झलकना काले हरे व लालके निमित्तसे है। निमित्त हटा लेनेसे व हट जानेसे इनका झलकना भी बन्द हो जाता है। आत्माका भी स्वभाव शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल, ज्ञान दर्शन मई, चैतन्य स्वरूप है परन्तु उसमें काले हरे लाल ढांकके समान किसी अजीव द्रव्यका संयोग है इसीसे उसमें नाना प्रकारके भाव दीख रहे हैं। क्योंकि स्वभावमें

× णत्थि मम कोवि मोहो, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥३६॥

(समयसार, कुंदकुंद०)

भावार्थ—मोह मेरा कोई संबन्धी नहीं है, जो उपयोग देखने जाननेवाला है वही मैं हूं। शुद्ध आत्माके जाननेवाले ऐसे ज्ञानको मोहके ममत्वसे रहित कहते हैं।

उपाधिका मालूम होना कभी पर निमित्तके बिना नहीं हो सक्ता बिना अन्य वस्तुके सम्पर्कके अपने आप आत्मामें कभी भी राग द्वेष मोह आदि मान नहीं दीख पड़ते। जब ऐसा है तब वह पर द्रव्य क्या है ? तो विचारनेसे मालूम होगा कि वह भी पुद्गल जड़ है। परन्तु वह सूक्ष्म पुद्गल है जो स्वतः दिखलाई नहीं पड़ता किन्तु उसका कार्य हमारे इन प्रगट मन, वचन, कायोंमें मालूम हो रहा है। जैसे जब हममें किसी भी तरहका क्रोध, मान, माया, लोभ, कामविकार व शुभ तथा अशुभ विकल्प उठता है उस विकल्पका फल या असर हमारे शरीर पर तुर्त झलकने लगता है। हमारा मुख स्वयं साक्षीभूत हो जाता है। मुख देखकर समझनेवाले समझ जाते हैं कि इसके मनमें क्रोध है, लोभ है, माया है, कामविकार है, दया है, विनय है, दीनता है, आदि। जो जड़ होगा उसीका असर जड़ पर नजर आवेगा। इसीसे कहना होता है कि संसारी आत्माके साथ एक कारण शरीर है जिसको पुण्य पाप कर्मोंसे बना हुआ कार्माण शरीर भी कहते हैं। इसीके निमित्तसे राग, द्वेष, मोह, आदि औपाधिक भाव हमारेमें झलक रहे हैं। वास्तवमें विचार करनेसे यही समझमें आवेगा कि जब जड़ अजीव आत्मासे भिन्न है तब उसके निमित्तसे होनेवाले सर्व शुभ व अशुभ भाव भी पररूप हैं आत्माके निज स्वभाविक धर्म नहीं हैं। ये जो मन, वचन, काय हमारे तुम्हारे काम करते हुए दीख रहे हैं ये भी कार्माण या कारण शरीरके फल या असर हैं तथा इनमें जो क्रियाएं हो रही हैं इनको भी घुमानेकी कुंजी कार्माण शरीरका उदय या फल है। इसीसे वह

कहा जाता है कि वास्तवमें (असलमें) आत्मा शुद्ध है इसमें कोई औपाधिक भाव, कोई कार्माण शरीर, कोई मन, वचन, काय व उनका कोई भी अशुभ या शुभ व्यापार नहीं है। यह आत्मा परम पवित्र उस निर्मल रुईके वस्त्रके समान है जिसमें कोई भी दाग या दोष न हो या उस निर्मल जलके समान है जिसमें एक परमाणु भी रजका—कीचड़का न हो या यह निर्मल सूर्य्यके प्रकाशके समान है जिसमें किंचित् भी अंधकारका सम्बन्ध न हो। इसीसे इस आत्माको ही परब्रह्म, परमात्मा, परम पवित्र, ईश्वर, निर्विकार, निरंजन, निर्मल, शुद्ध, ज्ञानघन, चिदात्मा आदि अनेक नामोंसे कहते हैं। *

जैसे यह आत्मा वास्तवमें शुद्ध है ऐसे ही यह आनन्दमई भी है। क्योंकि आत्माका गुण जैसे चेतना है ऐसे ही सुख आनन्द भी है। यह आनन्द जगतमें संसारी जीवोंके अनुभवमें आनेवाले क्षणिक इन्द्रिय जनित सुख तथा दुःखसे बिल्कुल विलक्षण है। हम दूसरे अध्यायमें इस बातको अच्छी तरह बता चुके हैं कि सुख हमारे आत्मामें ही है। वह हमारे आत्माका एक विशेष गुण है। इसलिये यह आत्मा जैसे ज्ञानघन शुद्ध है वैसे आनंद गुणसे सर्वांग पूर्ण होनेसे आनंदमई है।

अहमिक्को खलु सुद्धो—दंसण णाण मइओ सया रूवी।
णवि अत्थि, मम किंचिवि, अण्णं परमाणु मित्तंपि ॥ ३८ ॥

(समयसार, कुंद०)

भावार्थ—मैं निश्चयसे एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शन ज्ञानमई हूं, सदा अरूपी हूं, मेरा कोई अन्य परमाणु मात्र भी नहीं है।

यह आत्मा अविनाशी भी है; क्योंकि इसकी सत्ता या अस्तित्व या मौजूदगीका कभी भी नाश नहीं होगा। जैसे कि जगतमें यह नियम है कि किसी वस्तुका नाश नहीं होता * ऐसे ही इस आत्माका नाश या अभाव कभी नहीं होता हम पहले बता चुके हैं कि आत्माका लक्षण चेतना है। चेतना गुण है। गुणका कभी नाश होता नहीं। तथा गुण किसी द्रव्यके आश्रय रहता है × यही गुणका लक्षण है इसलिये चेतनाको रखनेवाला आत्मा नामा द्रव्य भी कभी नाश नहीं हो सक्ता इसी लिये यह अविनाशी है। यद्यपि हमको एक शरीरमें आते और उसमेंसे जाते मालूम पड़ता है तो भी इसका अभाव नहीं होता। यह कहीं और अपना डेरा बनाता है। किसी और देहको धारण कर लेता है। इसलिये यह बात अच्छी तरह निश्चयमें रखना चाहिये कि आत्माका कभी अभाव नहीं था और न कभी होगा इसी लिये यह अविनाशी है। यह आत्मा अमूर्तीक भी है क्योंकि जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि जड़ रूपी

---

* भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥ १५ ॥ (पंचा० कुं०)

भावार्थ—सत्‌रूप पदार्थका नाश नहीं होता और जो नहीं है उसका जन्म नहीं होता। पदार्थ अपने गुणोंकी अवस्थामें ही उत्पाद (जन्म) और व्यय (नाश) करते हैं।

× दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि जम्हा ॥१३॥ (पंचा. कुं.)

भावार्थ-द्रव्यके विना गुण नहीं रहते, गुणोंके विना द्रव्य नहीं रहता इसलिये द्रव्य और गुणोंकी भिन्नता नहीं है।

द्रव्यके गुण या अवस्थाएं होती हैं उसे ही मूर्त्तीक कहते हैं। सो आत्माके असली खास स्वभावमें इन स्पर्श रस वर्ण आदिका कहीं पता भी नहीं है इस लिये यह अमूर्त्तीक है। जैसे आकाश, काल, धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य अमूर्त्तीक हैं ऐसे आत्मा भी है।

यद्यपि यह अमूर्त्तीक है तथापि ऐसा नहीं है कि कोई वस्तु ही न हो। आत्मा एक वस्तु है इसीसे वह आकाशके भीतर रही हुई होकर उस आकाशमें अवगाह या स्थान पाती है। इस लिये यह आधेय है आकाश आधार है। जो जो आधेय होता है वह आधारके समान या असमान आकारको रखनेवाला होता है। जो कोई वस्तु न होगी उसमें कोई आकार न होगा। परन्तु जो वस्तु होगी कोई न कोई आकार अवश्य होगा इसलिये आत्मा भी आकार रखनेवाला है। परंतु यह आकार चैतन्य आदि अनंत गुणोंका समुदायरूप है और यह समुदाय ऐसा है कि सर्व गुण सर्वमें व्यापक हैं। यह कोई पुद्गलके समान रूप रस गंधमय नहीं है। आत्मा एक ऐसा पदार्थ है जो इन्द्रियोंके गोचर न होनेसे अतिसूक्ष्म है। परंतु उसके कार्यको जहां देखा जाता है वहां उस आत्माका अनुमान किया जाता है। हम जब अपने ही सजीव शरीरको देखते हैं तब उसमें चेतनाकी–जाननेकी क्रिया हम अपने शरीर भरमें पाते हैं। हमारा मन वचन काय उसीके होते हुए अनेक प्रकारकी क्रिया करता रहता है। उसके चले जानेसे इनमें कोई क्रिया नहीं होती यद्यपि ये बने रहते हैं। जैसे हमें स्पर्श द्वारा ज्ञान अपने शरीर परसे ही होता है।

जो कोई स्पर्शने योग्य वस्तु शरीरमें स्पर्श करेगी उसीका ही ज्ञान होगा। शरीरमें थोड़ी भी दूर यदि वस्तु होगी तो उसको स्पर्शका ज्ञान नहीं हो सकता। इसीसे ही यह अनुमान किया जाता है कि यह आत्मा शरीरके प्रमाण आकारको रखनेवाला है। छोटे शरीरमें छोटा जब कि बड़े शरीरमें बड़ा होता है। जैसा घर होता है उसीमें ही यह व्यापकर रहता है। यदि एक चींटीके शरीरको छोड़कर हाथीके शरीरमें जाता है तो उसी प्रमाण व्यापता है। यदि हाथीके शरीरको छोड़कर मनुष्यमें आता है तो उसीके प्रमाण संकोच कर व्यापता है। छोटी वयके बालकमें आत्मा छोटा होता है। ज्यों२ शरीर बढ़ता है आत्माका विस्तार होता जाता है। जैसे दीपकका प्रकाश। छोटे स्थानमें छोटा व बड़े स्थानमें बड़ा होता है। एक दीपकका प्रकाश यदि एक १६ फुट लम्बे चौड़े कमरेमें फैल रहा है। यदि उसी दीपकको उठाकर एक छोटे घड़ेमें रख दें तो उतने हीमें वह प्रकाश फैलेगा। ऐसे ही आत्माका संकोच विस्तारपना जानो। यह संकोच विस्तार प्रत्यक्ष प्रगट है।

जैसे शरीरका सम्बन्ध व उसका छोटा बड़ा होना कार्माण या कारण शरीरके निमित्तसे होता है ऐसे ही आत्माका संकुचना विस्तरना भी इसी कारण शरीरमें रहे हुए कर्मोंके उदयके अनुसार होता है। आत्मामें जब शरीरके अनुसार छोटा या बड़ापना आकारमें होता है तब यह आत्मा यदि फैले तो कहां तक फैल सक्ता है इस प्रश्नके उत्तरमें प्राचीन ऋषियोंके कथनके अनु-

सार यह कहा जाता है कि यह आत्मा इस छः द्रव्यमई जगत*
भरमें अर्थात् इस लोकमें सर्वत्र फैल सक्ता है। इसका आकार
निश्चयसे लोकके बराबर है। इसका यह भाव न लेना चाहिये
कि आत्मा लोकके बराबर एक शरीर धारण करके इतना फैलेगा
किन्तु यह लेना चाहिये कि कुछ अवस्थाएं ऐसी होती हैं जिनमें
यह आत्मा शरीरमें रहते हुए भी बाहर फैलता हुआ थोड़ी दूर
या कभी लोक मात्र तक जाता है और फिर शरीरके प्रमाण हो
हो जाता है। ×

वर्तमानमें हमारे प्रत्यक्ष अनुभवमें आत्माके आकारकी सत्ता
अपनी २ देह प्रमाण झलक रही है।

इस आत्माका स्वभाव हमें खूब अच्छी तरह पहचान
लेना चाहिये क्योंकि जब तक हमें सच्ची पहचान न होगी

---

* अणुगुरुदेहपमाणो–उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा, णिच्छयणयदो असंखदेसं वा ॥ १ ॥
(द्रव्यसंग्रह नेमिचंद्रकृत)

भावार्थ–संकोच, विस्तार होनेके कारणसे यह आत्मा छोटी व बड़ी देह प्रमाण रहता है। समुद्घातके समयके सिवाय अर्थात् शरीरमें रहता हुआ भी कभी कुछ फैलता है फिर शरीर प्रमाण हो जाता है। व्यवहारसे अर्थात् कर्मोंके निमित्तसे यह अवस्था होती है। निश्चयसे यह असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् यह लोकके बराबर आकार रखनेवाला है।

× दव्वइं जाणइ ताइ छह। तिहुयणु भरि यउ जेहिं।
आइ विणासविवज्जियहिं। णाणिहिं पभणिय एहिं ॥१४१॥
(परमात्मा प्रकाश, योगेन्द्राचार्य कृत।)

भावार्थ–इन छः द्रव्योंको जानों जिनसे तीन लोक भरा हुआ है, जो सब आदि अंत रहित हैं ऐसा ज्ञानी कहते हैं।

तब तक हमें उसका ग्रहण न होगा। आत्मा एक द्रव्य है जो अपनी सत्ता स्वयं रखता है। हरएक शरीरमें भिन्न २ चेतना गुणका कार्य्य प्रगट हो रहा है इससे उस अपनी २ चेतना गुणकी सत्ताका द्रव्य आत्मा भी भिन्न २ है। और यही प्रत्यक्ष प्रगट भी हो रहा है। हम जगतमें हजारों मनुष्योंको देखते हैं। हरएकका अनुभव उसीही को है। एकका अनुभव दूसरेको नहीं है। यदि किसी स्थान पर सौ मनुष्योंकी पंगति बुलाई जावे और उनमेंसे ९० मनुष्य भोजन करने एक साथ बैठे तथा १० मनुष्य उनको भोजन परोसनेका काम करें। भोजनमें लड्डू, बरफी, इमरती आदि सबको परोसे जावें, सब खावें वे परोसनेवाले १० नहीं खावें। ऐसी दशामें उन मिठाइयोंमें कैसा २ स्वाद है इसका अनुभव हरएक खानेवालेको अलग २ होगा तथा जिन्होंने खाया नहीं केवल परोसा उनको बिल्कुल न होगा। यदि उन सर्व १०० मनुष्योंकी आत्मा व सर्वकी चेतना एक ही होती—उनकी पृथक् पृथक् सत्ता न होती तो उन १०० मनुष्योंका एक सा ही अनुभव होता अथवा यदि उनमेंसे एक ही भोजन करता तो भी शेष ९९ मनुष्योंको वही अनुभव होता। सो ऐसा कभी होता नहीं इससे हरएक जीवकी सत्ता अलग अलग है। * सत्ता एक माननेसे गुरु शिष्यके

---

* स्वयं स्वकर्म निर्वृत्तं फलं भोक्तुं शुभाशुभम्।
शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा ॥२॥ (ज्ञानार्णव शुभचंद्र)

भावार्थ—इस जगतमें यह आत्मा अकेला ही अपने कर्मोंके फल सुख और दुःखोंको भोगता है और अकेला ही एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरके लिये जाता है।

उपदेशकी आवश्यकता नहीं रह सकती। जो गुरुका अनुभव वही सब शिष्योंका हो जाय तब गुरुको समझानेकी जरूरत नहीं सो ऐसा होता नहीं।

भिन्न २ वस्तुओंमें समान जातीयताकी अपेक्षा एकपना कहा जा सकता है। सो ऐसा जगतमें व्यवहार है ही। मनुष्यत्वकी अपेक्षा एक मनुष्य कहनेमें सब मनुष्य, पशुत्वकी अपेक्षा एक पशु कहनेमें सब पशु, तथा देवत्वकी अपेक्षा एक देव कहनेसे सब देव समझे जाते हैं। जैसे हम कहते हैं मनुष्य दो पैरसे खड़े हो सीधा चलता है। पशु चार पैरसे नीचा झुककर चलता है। देव क्रांतियुक्त शरीर धारण करता है। इन तीनों वाक्योंमें मनुष्य, पशु, व देव एक वचनमें हैं तोभी अपने सम्पूर्ण जातिवालोंका बोध कराते हैं। ऐसा होने पर भी सभी मनुष्य, पशु या देवोंकी सत्ता व्यक्ति रूपसे एक नहीं कही जा सकी।

एको याति प्रबलदुरघाज्जन्ममृत्युं च जीवः।
कर्मद्वन्द्वोद्भवफलमयं चारुसौख्यं च दुःखं।
भूयो भुंक्ते स्वसुखविमुखः सन् सदा तीव्रमोहा-
देकं तत्त्वं किमपि गुरुतः प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन् ॥ १०१ ॥
(नियमसारवृत्ति पद्मप्रभकृत)

भावार्थ—यह जीव अकेला ही प्रबल कर्मके उदयसे जन्म और मरणको प्राप्त होता है, तथा अकेला ही सदा तीव्र मोहके उदयसे आत्मीक सुखसे विमुख होता हुआ शुभ और अशुभ कर्मके फलरूप सुख और दुःखको बार २ भोगता है। तथा अकेला ही किसी गुरुके निमित्तसे एक अपने आत्मीक तत्वको पाकर उसीमें ठहरता है ॥

इसी तरह चेतना लक्षणकी समानतासे जितने भी जीव हैं सब समान हैं। जो स्वभाव एकका है सो ही स्वभाव सबका है। उनके स्वभावकी अपेक्षा सर्व आत्माओंमें कोई भी अन्तर नहीं है। इसलिये जातिकी अपेक्षा समानता है पर व्यक्तिपनेकी अपेक्षा असमानता है।

यदि किसी समय किसी स्थान पर १०००) मासिक वेतन पानेवाले हाईकोर्टके १० जज बैठे हों तो वे जजपनेकी अपेक्षा समान हैं पर सबकी आत्मा, शरीर, अनुभव भिन्न २ है उसी तरह चेतनाकी अपेक्षा सर्व आत्माओंमें समानता होनेपर भी उनकी व्यक्ति पृथक् पृथक् है। आत्माकी सत्ता जैसे अब भिन्न२ प्रतीतिमें आ रही है ऐसी ही सदासे थी और सदा ही रहेगी। ऐसा कोई समय न था कि वे पहले सब एक हों फिर उसके खंड हो करके भिन्न भिन्न हुए हों तथा न कोई समय ऐसा आवेगा जब वे सब एक पिंड हो जावेंगे। इसी कारणसे यह बात जाननी चाहिये कि प्रत्येक आत्मा नित्य है। हरएक आत्मा जब सदासे है और सदा ही रहेगी तब उसे नित्य कहना बिलकुल ठीक है। आत्माके भीतर अनंत स्वभाव व गुण हैं। उनमेंसे आत्माकी केवल पहचान करनेके लिये थोड़ेसे स्वभाव व गुणोंही का विचार करनेसे आत्माको सर्व अनात्मा या अजीव पदार्थोंसे भिन्न जान लिया जाता है।

गुण दो प्रकारके होते हैं सामान्य और विशेष। सामान्य गुण उनको कहते हैं जो सर्व छहों द्रव्योंमें पाए जावें, विशेष वे

गुण हैं जो एक द्रव्यमें पाए न बं और अन्य पांचों द्रव्योंमें न पाए जावें ।

आत्मामें पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश तथा कालकी तरह अनेक सामान्य गुण है जिनमें ६ मुख्य हैं । अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरु प्रमेयत्व लघुत्व, प्रदेशत्व ।

जिस शक्तिके निमितसे द्रव्यका कभी नाश न हो उसको अस्तित्व गुण कहते हैं।

जिस शक्तिके निमितसे द्रव्यमें अर्थ क्रिया हो अर्थात् वह कुछ काम दे सके उसको वस्तुत्व गुण कहते हैं ।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य सर्वदा एकसा न रहे, जिसकी पर्यायें या अवस्थाएं सदा बदलती रहें उस को द्रव्यत्व गुण कहते हैं ।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य किसी न किसीके ज्ञानका विषय हो अर्थात् वह जानने योग्य हो उसको प्रमेयत्व गुण कहते हैं ।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यकी द्रव्यता कायम रहे अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप न परिणमे और एक गुण दूसरे गुण रूप न परिणमे तथा एक द्रव्यके अनेक या अनन्त गुण बिखर कर जुदे जुदे न हो जावें उसको अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं ।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यका कुछ न कुछ आकार अवश्य हो उसको प्रदेशत्व गुण कहते हैं । इसी लिये यह पहले कहा गया है कि आत्मा भी आकार रखता है । आत्मामें विशेष गुण भी बहुतसे हैं जिनमें मुख्य हैं:—

चेतना, आनन्द, वीर्य, सम्यक्त, और चारित्र ।

जिस गुणसे आपका और पर पदार्थोंका प्रतिभास हो उसको चेतना कहते हैं इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। यही लक्षण है जिससे आत्माको औरोंसे भिन्न करके पहचान लेते हैं, इसीके दो भेद हैं ज्ञान और दर्शन। जो सामान्यपने जाने सो दर्शन है, जो विशेषपने जाने सो ज्ञान है।

आल्हादरूप आत्माके परिणाम विशेषको आनन्द या सुख गुण कहते हैं। यह स्वाधीनतासे आत्मामें मौजूद है, यह परम निराकुल है। इसका भी वर्णन पहले हो चुका है।

आत्माकी शक्तिको वीर्य कहते हैं। आत्मा अनंत बलको रखनेवाला है। यह बल शारीरिक बलसे भिन्न है। यह बल आत्माको गुणोंके उपभोगमें सहायता देता है।

जिस गुणके प्रगट होनेपर अपने शुद्ध आत्माका प्रतिभास हो उसको सम्यक्त गुण कहते हैं। स्व स्वरूपकी गाढ़ रुचि होना इस गुणका काम है। आत्माकी ऐसी शुद्धि विशेषको जिसमें कोई रागद्वेष नहीं किन्तु पूर्ण वीतरागता है तथा आत्माका निश्चलतासे अपनेमें आप ठहरना है उसको चरित्र गुण कहते हैं।

ऐसे सामान्य और विशेष गुणोंको रखनेवाला आत्मा है। हरएक आत्मामें स्वतंत्ररूपसे यह गुण विद्यमान हैं। हरएक द्रव्य और उसमें रहे हुए गुण नित्य होते हैं, उनका कभी नाश नहीं होता है। इसीसे आत्मा और उसके गुण नित्य हैं। परंतु द्रव्यत्व शक्तिके कारण इन गुणोंमें अवस्थाएं सदा बदला करती हैं कोई गुण कूटस्थ नित्य नहीं रहता किन्तु परिणमन करता है इसीसे

सर्व गुण तथा उनका आधार द्रव्य परिणामी अर्थात् अनित्य है इसी कारण यह आत्मा भी परिणामी या अनित्य है।

पर्यायें या अवस्थाएं दो तरहकी होती हैं:—स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय।

शुद्ध अवस्थामें सब द्रव्योंमें स्वभाव पर्याय होती हैं। जैसे क्षीर समुद्रमें निर्मल जल है उसमें सूक्ष्म तरंगोंका उठना बैठना समय २ होने पर भी कोई मलीनता, कलुपता या हीनता उस क्षीर समुद्रके निर्मल जलमें नहीं होती उसी तरह शुद्ध अवस्थामें रहे हुए द्रव्योंके भीतर स्वभाव परिणमन हुआ करता है परन्तु उससे कोई कलुपता या हीनता नहीं होती है।*

दूसरे द्रव्यके निमित्तसे जो कोई परिणमन दूसरे द्रव्यमें हो उसको विभाव पर्याय कहते हैं। यह विभाव पर्याय जीव और पुद्गलमें ही होती है और चार द्रव्योंमें नहीं होती क्योंकि वे सदा शुद्ध अवस्थामें ही रहते हैं। जैसे हम संसारी जीवोंके कार्माण या कारण शरीरका सम्बन्ध है जिसके निमित्तसे ही हमारे भीतर भावोंमें क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष आदि, विभाव भाव होते और मिटते हैं उसी तरह जैसे स्फटिकके भीतर काला, नीला, लाल डांकके सम्बन्धके निमित्तसे उसकी कान्तिका काला-

---

* अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणं।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले॥
(आलापपद्धति, देवसेन कृत)

भावार्थ—अनादि और अनंत द्रव्यमें प्रति समय स्वभाव पर्याएं इसी तरह उठती बैठती रहती है जैसे समुद्रमें जलकी लहरें उठती बैठती है।

पन, लीलापन व लालपन रूप परिणमन हो जाता है अर्थात उसमें यह रंग दिखते हैं। यही विभाव पर्याय है। जैसे स्फटिकके सामनेसे ढांकका सम्बन्ध हटनेसे उसमें यह कोई विभाव परिणमन नहीं होगा उसीतरह आत्माके साथ जब कार्माण शरीरके उदयका सम्बन्ध न होगा यह कोई विभाव परिणमन न होगा। इसी तरह पुद्गलके परमाणु मिलकर अनेक प्रकारके स्कंध बन जाते हैं उनमें स्पर्श, रस, गंध वर्णका अनेक प्रकारका परिणमन होता है जिनमें निमित्त कारण दूसरे स्कंध पड़ जाते हैं। अथवा आत्माके राग द्वेष भावोंके निमित्तसे पुद्गलोंका कार्माण शरीरमें आकर पुण्य पापकर्म रूप परिणमन हो जाना यह सब विभाव पर्याय हैं। हम इस जगतमें देखते हैं कि मेघ बने, पानी हुआ, नदी बही, पहाड़ बने, टीला टूटा, बिजली चमकी, बिजली बनी, शब्द हुआ, ये सब पुद्गलकी विभाव पर्यायें हैं। हम सब लोग रात दिन पुद्गलोंको लेकर उनकी विभाव पर्यायें करते रहते हैं। अन्न, दूध आदिसे अनेक व्यंजन, घी, दही मलाई पकवान आदि बनाते हैं ये सब विभाव पर्यायें हैं।

यह खूब ध्यानमें रखना चाहिये कि द्रव्य एक सत् पदार्थ है उसमें गुण और पर्यायें होती हैं। गुण सदा ध्रौव्य या नित्य रहते हैं परन्तु पर्यायें सदा बदलती रहती हैं। इसीसे द्रव्यको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप भी कहते हैं। क्षण क्षणमें एक पर्यायका उत्पाद या उपजना होता है। उसी समय पुरानी पर्यायका व्यय या नाश होता है परन्तु जिस२ गुणमें पर्याय हुई वह गुण कभी नष्ट नहीं होता इसीसे वह ध्रौव्य रहता है।

जैसे एक सुवर्णकी डलीको लेकर उससे दस पांच आभूषण बनाए गए, इसमें डलीकी अवस्था आभूषणों में बदल गई पर दोनों दशाओंमें सुवर्ण व उसके पीत, भारीपन आदि गुण ध्रौव्य या नित्य हैं—उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यपना हरक्षणमें पाया जाता है जैसे हमारे ज्ञानमें यकायक एक मित्रकी स्मृति आई। इस यादके भावका उपजना हुआ। उसी समय ज्ञानमें जो कुछ पहले दशा थी वह अब न रही तथा ज्ञानगुण सदा बना ही हुआ है। *

आत्मा एक अद्भुत पदार्थ है। इसके सर्व स्वरूपका ज्ञान अनुभव ही द्वारा मालूम होता है। वचनोंसे इसका स्वरूप कहना बहुत ही कठिन है।

इसीसे आपको यह निश्चय रखना चाहिये कि इस आत्माका लक्षण चेतना अर्थात देखना जानना है। यह चेतना रहित अजीव पदार्थ जो पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इनसे भिन्न है। इसका सत्स्वरूप असलमें—वास्तवरूपसे—निश्चयसे शुद्ध, आनंदमई, अविनाशी क्रोधादिक विचारोंसे रहित है। यह देह प्रमाण आकार रखता है। प्रत्येक आत्माकी सत्ता सदा भिन्न २ बनी रहती है। इससे प्रत्येक आत्मा नित्य है।

---

* दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥ (पंचा. कुंद.)

भावार्थ—द्रव्यका लक्षण सत् है अर्थात् जो सदासे था व सदा रहेगा, वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपन सहित होता है अथवा जो गुण और पर्यायोंका आश्रय है उसको सर्वज्ञ द्रव्य कहते है।

आत्मामें परिणाम सदा नये २ हुआ करते हैं क्योंकि हरएक द्रव्य परिणमन शील है इससे यह आत्मा परिणामी या अनित्य भी है। *

जिसको सत्, चित्, आनन्दमय, परमात्मा, परमेश्वर, भगवान परम प्रभु, कृतकृत्य, पवित्र, केवली तथा अविनाशी कहते हैं सो ही वास्तवमें हरएक आत्माका स्वरूप है। यद्यपि कारण शरीरादि पुद्गलोंके साथ यह संसारी जीव देखा जाता है। तथापि वह जीव अलग है और यह पुद्गल अलग है। जैसे क्षीर और नीर मिले हों तो भी दोनों अलग हैं। हंस क्षीरको क्षीर

---

* इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम् ॥ २७ ॥
(समयसार कलश, अमृतचंद्र)

भावार्थ—एक अपेक्षा अर्थात् अनंत गुणोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा अनेकपनेको रखता है, दूसरी अभेदकी दृष्टिसे देखा जाय तो सदा ही एकपनेको रखता है अर्थात् कोई गुण उसमें छूट नहीं सकता। परिणामोंके बदलनेकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा क्षणिक या अनित्य है। गुण और द्रव्यकी स्थितिकी अपेक्षा देखा जाय तो सदा ही उदय रहनेसे यह आत्मा ध्रौव्य या नित्य है। ज्ञानकी अपेक्षा देखा जाय तो सर्व ज्ञेयोंको जाननेसे यह परम विभु है, वस्तुके आकारकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा अपने प्रदेशोंमें नियत है। अहो, इस आत्माकी स्वाभाविक अद्भुत महिमा है।

और पानीको पानी देखता है इसी तरह ज्ञानी जीव आत्माको आत्मा और पुद्गलको पुद्गल देखता है।×

सुख व शांति कैसे प्राप्त हो ?

पाठकोंको यह बात भले प्रकार पक्की समझनी चाहिये कि जो सुख और शांति इस भगवान आत्मामें है अर्थात् जो सुख शांति इस आत्माका स्वभाव है उसका अनुभव होनेके लिये यह आवश्यक है कि हमें अपने आत्माके सत्स्वरूपका गाढ़ निश्चय हो। जैसा ऊपर कहा गया है उसी प्रमाण आत्माको निश्चयमें लाकर उसका विचार या ध्यान जब किया जायगा तब उस आत्मामें रही हुई सुख शांति स्वयं अनुभवमें आ जायगी।

हम वर्तमानमें अपनेमें जो राग द्वेष क्रोध मान माया तथा अल्पज्ञान आदि अवस्थाएं मालूम कर रहे हैं उसका कारण हमारे साथ कार्माण या कारण शरीरका सम्बन्ध है जैसा हम पहले बता चुके हैं। इसीसे हमारी दशा वर्तमानमें अशुद्ध कहनेमें आती है। परन्तु यह अशुद्धता केवल जीव और पुद्गलकी संयोग जनित है जैसे एक सुवर्णकी डली कीचड़से लिप्त हो जाने पर मैली

× ए ए हिय संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
णय हुंति तस्सताणि दु-उवओग गुणाहि ओजम्हा ॥५७॥

भावार्थ—इन वर्णसे लेकर रागद्वेष आदि पर्यंत सर्व जड़ व उसः सम्बन्धी विकारका सम्बन्ध आत्माके साथ ऐसा जानना चाहिये जैसे दूध और पानीका सम्बन्ध होता है। ये सब आत्माके नहीं हो सकते क्योंकि यह आत्मा ज्ञान दर्शनमई उपयोग गुणको रखनेके कारण इनसे भिन्न है।

कहलाती है व रुईके सफेद कपड़े पर मैल चढ़ जानेसे कपड़ा मैला कहलाता है। वास्तवमें देखो तो सुवर्णमें सुवर्ण है कीचड़में कीचड़ है; तथा कपड़ेमें कपड़ा है, मैलमें मैल है। विचारवान ज्ञानी दोनोंको भिन्न २ देखता है। जैसे जौहरी दोषदार पत्थरके खंडसे मिले हुए रत्नकी आभाको एक खुरखुरे पत्थरमें देखता हुआ रत्न व उसकी आभाको सर्व दोषोंसे रहित परखकर उसका मूल्य करता है—उसे असल रत्न तथा मैल अलग २ मालूम होता इसी तरह विचारवान ज्ञानी आत्माको आत्मा आत्मारूप जैसा कि इसका सत्स्वरूप ऊपर कहा गया है उस समान तथा पुद्गल पुद्गल रूप दिखता है।

आत्माके भीतर रही हुई सुख व शांति प्राप्त करनेके लिये यह बहुत ही आवश्यक है कि हम आत्माके सत्स्वरूप पर शंकारहित गाढ़ रुचि लावें। तथा वह रुचि ऐसी न हो कि केवल दूसरेकी कही हुई बात पर अन्धश्रद्धा रख ली गई हो; किन्तु वह ऐसी ही पक्की हो मानो साक्षात् अनुभवमें आई हो। पक्का अनुभव इस बातका कि आत्माका सत्स्वरूप क्रोधादि विकार रहित, चैतन्य और आनन्दमय है इस मानवको बहुत शीघ्र हो जायगा यदि यह एकान्तमें बैठकर थोड़े दिन अपने भीतर विचार करेगा। *

---

* विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं।
हृदय सरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥ २०२॥
(समयसार कलश, अमृतचंद्र)

और फिर ज्यों २ विचार बढ़ता जायगा पक्का अनुभव होता जायगा। एक दफे भी आत्माको अपना अनुभव हुआ कि उसकी गाढ़ रुचि अपने स्वरूपसे हो जायगी क्योंकि एक दफे भी अनुभव होनेसे उसको उस सच्चे सुखका स्वाद आएगा जो इसीके भीतर है। उस स्वादके आते ही उसको यह भी भास जायगा कि यह सुख इन्द्रिय जनित सुखसे बिलकुल भिन्न लक्षण रखनेवाला है। बस उसी समयसे उसको अपने स्वरूपके अनुभव करनेकी अशक्तिता या अति गाढ़ रुचि हो जायगी। यही रुचि पुनः पुनः मनको आत्माके विचारमें प्रेरित करेगी। और जब जब इसे आत्मामें अनुभवका स्वाद आयेगा तब तब यह सुख व शांतिका भोग करेगा। अपने मनको आत्माके विचारमें जोड़नेके लिये कुछ बाह्य साधन और सामग्रियोंकी आवश्यकता है जिनको बतलाना उचित जान पड़ता है:—

एकान्त सेवन—यद्यपि आत्माकी चर्चा करनी व आत्माके स्वरूपके प्रतिपादक ग्रंथोंका पठन पाठन करना, सुनना, विचारना इसके लिये सत्संगति रखनी आत्मविचारके लिये एक निमित्त साधक है तथापि जबतक स्वतंत्र रीतिसे स्वयं विचार न किया जायगा तब तक अनुभवकलाका जागृत होना कठिन है। इसलिये सुख व शांतिके इच्छुकके लिये एकान्त सेवनकी बहुत बड़ी आवश्यकता है।

भावार्थ—दूसरे वृथा कोलाहलसे क्या होगा, विरक्त हो और स्वयं निश्चिन्त होकर छः मास तक एक आत्माके स्वरूपका विचार कर तो क्यों तेरे हृदय सरोवरमें पुद्गल अर्थात जड़से भिन्न तेजधारी आत्माकी प्राप्ति न होगी? अर्थात् अवश्य होगी।

जब मनको कोई रुकावट नहीं होती और न दूसरे कोई आकर्षण होते हैं तब यह भली प्रकार विचार सागरमें गोते लगा सकता है। इसलिये जहां कोई आकुलताके कारण न हों वहां बैठकर विचारना चाहिये। कोई वन, बगीचा, सूना घर, पर्वत, शिखर, पर्वतकी गुफा, नदीतट, आदि एकान्त स्थान जहां स्त्री, बालक, पशु आदिका आना जाना न हो व कोई भय व अधिक शीत या उष्णताका स्थान न हो ऐसा स्थान पसन्द करना चाहिये। एकान्तमें विचारसे ही अनेक प्रकारकी विद्याएं सिद्ध होती हैं। एडिशन ऐसे अमेरिकाके आविष्कारक एकान्त सेवनसे अपनी बुद्धिबलसे अनेक अद्भुत काम लायक वस्तुओंकी खोज लगा सके हैं। यदि कोई मानव दूर नहीं जा सकता तो वह अपने घर हीमें एक ऐसा स्थान ठीक करले जहां मन दूसरे विषयमें जाकर न फंसे।

कालका विचार—आत्मानुभवके लिये प्रातःकाल संध्याकाल, मध्यान्हकाल, रात्रिका काल बहुत उपयोगी है। यों तो वही काल ठीक है जिसमें ऐसा विचार हो जावे परन्तु संध्याके काल विचारकी समतामें कुछ निमित्त कारण पड़ जाते हैं। सबसे बढ़िया काल ४ बजे सवेरेसे ६ बजे सवेरे तक है जब सब जगत प्रायः निद्रित अवस्थामें होता है।

मन, वचन, कायकी रक्षा—जब विचार करनेको बैठे तब अपनी बुद्धि जहां तक जोर देवे ऐसा उपाय करे कि शरीरको निश्चल आसन रूप रक्खे, पद्मासन, कायोत्सर्ग आदि अनेक आसन प्रसिद्ध हैं। इन आसनोंकी स्थितिमें शरीरको रखनेसे शरीर आल-

स्यमें नहीं आता है। तथा पवनादिके झकोरोंके होने पर भी निश्चल रह सक्ता है। आसन रूप रहनेसे श्वास उच्छवास नियमित मंद मंद स्वयं चलता है। हमें आत्म विचारके लिये बल पूर्वक श्वास रोकनेकी आवश्यकता नहीं है। न किसी हठ योगकी क्रिया ही की आवश्यकता है। हमें श्वासकी चिंता ही न करनी चाहिये उसे अपनी स्वाभाविक गतिसे मंद मंद चलते रहना चाहिये अथवा यदि थोड़ी देर स्वभावसे ही रुक जावे तो कुछ हर्ज नहीं है। किन्तु उसके रोकनेके परिश्रम करनेकी जरूरत नहीं है।

यदि हम एक तरहके आसनसे बहुत देर नहीं रह सकते तब इसमें कोई हर्ज नहीं है कि हम आसनको बदल लेवें। आत्म विचार करते हुए हमे आलस्यरूप शरीरको रखना व शरीरसे कोई और काम कर लेना जिससे आत्म विचारसे कोई सम्बन्ध नहीं है न करना चाहिये। बचनोंसे वही पाठ श्लोक, दोहा, छंद, मंत्र पढ़ना चाहिये, जो आत्म विचारमें सहकारी हो। उस समय किसीसे कोई बातचीत करना न चाहिये न इतने जोरसे कोई पाठ पढ़ना चाहिये कि जिससे इधर उधर पासमें बैठनेवालोंके चित्तमें विक्षेप हो जाय। जो कुछ पढ़ा जाय उसके अर्थका विचार करते हुए पढ़ा जाय तब ही वह पाठ कुछ आत्मविचारके लिये एक निमित्त आश्रय मात्र हो जायगा।

मनको भी बुद्धि पूर्वक दूसरी चिन्ताओंसे अलग करनेका संकल्प करके आत्म विचारमें लगाना चाहिये। परन्तु मन बड़ा चंचल है। इसका स्वभाव ही संकल्प विकल्परूप है। इसलिये

अपने विना चाहे हुए ही कोई दूसरे विचार मनमें आ जावें तो उनको अपने आत्मासे पर जान कर उनसे राग द्वेष न करना चाहिये और फिर मनको आत्म विचारकी तरफ ले आना चाहिये। इसका कभी खेद नहीं मानना चाहिये कि हम मनको रोकते हैं पर यह तो रुकता नहीं। अपने स्वभाव व आदतसे जितना कुछ आत्मविचारमें रुके उससे संतोष मानना चाहिये। जिस प्राणीको आत्मरुचि होती है तो मन स्वयं ही उस तरफ चला जाता है शक्तिके अभावसे यदि अधिक न रुके तो कोई आकुलता न करके फिर धीरेसे उस मनको अपने कार्य्य पर लाना चाहिये। इस तरह मन, वचन, कायको आत्मविचारके लिये तय्यार रखना चाहिये।

योग्य आहार विहार व नियमित व्यवस्था–आत्म विचारके लिये यह भी आवश्यक है कि हमारा शरीर स्वस्थ हो आलसी और भारी न हो। उसमें ज्वर, खांसी, श्वास आदि रोगोंका आक्रमण न हो. निद्रासे ग्रसीभूत न हो। इस लिये यह बहुत जरूरी है कि हम सात्विक भोजन पान ठीक समय पर करें, ठीक समय पर शयन करें, ठीक समय पर और भी जो काम हों उनको करें। चित्तको समाधानीमें रखनेके लिये नियत समय पर नियमित काममें मन, वचन, कायकी क्रिया होनी चाहिये।

विचार करनेका प्रकार–आत्मविचार करनेके लिये अनेक प्रकार हैं। एक प्रकार यह भी है जो आत्मा देव हमारे शरीरमें व्यापक है उसको अत्यन्त निर्मल स्फटिककी मूर्ति समान जितना बड़ा अपना देह है उतना बड़ा आकार

मनमें कल्पना कर उसे ज्ञानानंद मय विचारना चाहिये। निश्चल बैठे हुए नेत्रोंसे और बाहर देखना बंद कर तथा उन नेत्रोंको भीतर लगाकर अपने आत्माको ऊपर लिखे प्रमाण देखना चाहिये। तथा चित्तमें कभी अखंड ज्ञानपिंड कभी परम आनन्दमई इस तरह विचारना चाहिये। शब्दके आश्रयकी जरूरत पड़े तो ॐ, सोहं, अ, अर्हं, सिद्ध, परमात्मन्, निरंजन, आदि आत्म बाचक शब्दोंको मन्द मन्द कहते रहना चाहिये। अथवा इस नीचे लिखे श्लोकको पढ़ते व उसका अर्थ विचारते रहना चाहिये—

एकोऽहं निर्मलः शुद्धो ज्ञानदर्शनलक्षणः
शेषा मे बाहिरा भावा सर्वे संयोग लक्षणाः।

अर्थात्—मैं एकाकी हूं, मल रहित हूं, शुद्ध हूं, ज्ञान दर्शन लक्षणको रखनेवाला हूं। और सर्व भाव जो कर्मके संयोग से पैदा हुए हैं वे सब मेरे स्वभावसे बाहर हैं। तथा ऐसा पाठ पढ़ना चाहिये जिसमें आत्माके स्वरूपको कहनेवाले अनेक श्लोक या छंद हों। कुछ चुने हुए ऐसे श्लोक इस पुस्तकके अंतमें पाठकोंके सुभीतेके लिये दिये जाते हैं।

इस तरह विचारते विचारते कोई समय ऐसा आएगा जब विचारवश होकर अपने आत्माके स्वरूपमें ऐसी एकाग्रता झलकेगी कि उस समय कुछ भी विकल्प न होकर अद्भुत सुख और शांति अनुभवमें आएगी ऐसी अनुभव

देगा चाहे एक सेकंड मात्र भी क्यों न हो उस समय आप आपके सिवाय कोई नहीं अनुभवमें आयगा।*

इस तरह वारंवार अभ्यास करनेसे सुख शांति जो अपने ही पास है उसका स्वाद आने लग जायगा।

एक साधारण अभ्यास करनेवालेके लिये भी यह उचित है कि वह सवेरे और शाम १०–१५ मिनट तो कमसे कम एकांत में बैठकर ऐसा विचार करे।

आत्माके विचार करनेके और भी प्रकार हैं, जैसे-

(१) अपने शरीरको एक कुंप मानकर उसमें आत्माको शुद्ध जलके रूप पूर्ण भरा हुआ व्यापक अनुभव करे।

(२) अपने शरीरमें नाभि व हृदय स्थानमें चमकते हुए ओं शब्दको विराजमान कर उसका प्रकाश शरीरमें व्यापक हो रहा है इसी तरह आत्मा प्रभु शरीरमें व्यापक है ऐसा चिन्तवन करे।

---

* उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं।
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं॥
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि—
न्नुनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥९॥

(समयसार कलश अमृतचंद्र)

भावार्थ–जब इस सर्व ज्योतियोंको मंद करनेवाली आत्मज्योतिका अनुभव होता है तब नयोंकी लक्ष्मी नहीं उदय होती अर्थात् अपेक्षाओंके विकल्प नहीं रहते, प्रमाण अस्त होता है। नाम स्थापना आदि लोकमें व्यवहारके सहाई निक्षेपोंकी कल्पना भी न मालूम कहां चली जाती है, और अधिक क्या कहें तब तो सिवाय एक आत्माके द्वैत भी नहीं प्रतिभास होता है।

(४) अपने शरीरमें नाभि स्थान पर उपर मुख किये हुए एक श्वेत कमल चिंतवन करे जिसके १६ पत्र विचारे उन पत्रोंपर अ आ आदि १६ स्वर पीत रंगके लिखे मध्यमें अर्हं या ॐ लिखे हृदय स्थानमें नीचा मुख किये काले रंगका एक कमल विचारे जो आठ पत्रका हो। नाभिकमलके मध्य अर्हं या ॐसे अग्नि शिखा निकलती विचारे। यह शिखा हृदयस्थ कमलको जो कार्माण या कारण शरीरकी स्थापना रूप है जलाने लगे। फिर ऊपर आकर मस्तक परसे शरीरके तीन तरफ छाकर अग्निका त्रिकोण बना दे। तब यह विचारे की भीतरकी अग्नि कारण शरीरको और बाहरकी अग्नि स्थूल शरीरको दग्ध कर रही है। आत्मा भीतर स्वच्छ बैठा है। इस तरह जो कुछ आत्माके साथ पुद्गलका सम्बन्ध था उसको जलाकर अग्निने भस्म कर दिया और अग्नि शांत हो गई ऐसा पुनः २ विचारे।

(५) बड़ी भारी तीव्र पवनके संचारको विचार करे जो मेरे आत्माके चारों तरफ घूमकर जो कुछ पुद्गलकी भस्म है उसको उड़ा रही है आत्मा भीतर स्वच्छ है ऐसा पुनः २ विचारे।

(६) मेघोंसे भारी जलकी वर्षा मेरे आत्मापर पड़ रही है जो कुछ भस्म रह गई है उसको धो रही है आत्मा भीतर अत्यन्त निर्मल है ऐसा बार बार विचारे।

(७) आत्माको निर्मल पके हुए सोनाबाणीके सुवर्णके समान या स्फटिकके समान स्वच्छ अनुभव करे कि यह जलसे भी धोकर रजके सर्व संयोगसे हट गया है। परम पवित्र है।

(८) जैसे धान्यमें भीतर और बाहरके छिलकेसे

चावलका दाना अलग है ऐसे भीतर कारण शरीर व उसके कार्य रागद्वेष मोह तथा बाहर प्रगट स्थूल शरीर इनसे आत्मा भगवान भिन्न है जो ऐसा आत्मा है वही मैं हूं। इस तरह बार बार विचार करे।

(९) शरीररूपी एक मंदिर है उसमें आत्मारूपी देव परम शांत रूप आनंद रूप शरीर प्रमाण पुरुषाकार धारण किये हुए विराजमान हैं सो ही मैं हूं। मैं ही पूज्य मैं ही पूजक हूं। मैं ही ध्येय मैं ही ध्याता हूं। मैं ही ज्ञाता मैं ही ज्ञेय हूं। इस तरह बारबार अनुभव करे।

(१०) अपने शरीरमें वक्षस्थलके मध्यमें एक आठ पंखडीका कमल विचार करे यह कमल श्वेतवर्णका है—इन पत्तोंपर १०८ बिन्दु पीतरंगके लिखे हुए देखो। इस तरह कि हरएक पत्तेके एक किनारे पर छः दूसरे किनारे पर छः ऐसे बारह २ बिन्दु अलग २ श्रेणीवार विचारे तथा कर्णिकाके स्थान पर घेराकारमें बारह बिन्दु विचार करे इस तरह १०८ बिन्दुओंको विचार कर ध्यानमें जमा ले। कुछ दिनके अभ्याससे ऐसा कमल प्रत्यक्ष दीखनें लग जायगा। तब आगेके पूर्व दिशाके पत्रको ध्यानमें लेकर उसके हर बिंदुके ऊपर मंत्रकी जाप करे जब यह पत्र हो जाय तब पश्चिमकी तरफके पत्रके बारह बिन्दुओंपर ऐसा ही जपे फिर दक्षिणके फिर उत्तरके इस तरह ४ दिशाओंके पूर्ण कर पूर्व और उत्तरके कोनेके, व उत्तर और पश्चिमके कोनेके, पश्चिम और दक्षिणके कोनेके, तथा दक्षिण और पूर्वके कोनेके बारह२ बिन्दुओंपर जप जावे।

अंतमें मध्यके बारह विन्दुओंपर जपे इस तरह १०८ बार ॐ, अर्हं सिद्ध, सोहं, परमात्माने नमः, सिद्धायनमः, आदि मंत्रोंको जप जावे। इन मंत्रोंको जपते हुए मनके द्वारा अपने शरीर मात्रमें व्याप्त निर्मळ आत्मा पर ही दृष्टि रखनी चाहिये। हरएक बिंदुपर मंत्र कहकर सोचते रहना चाहिये कि मैं ज्ञानदर्शन आनंदमय स्वरूपधारी हूं यदि मन लीन हो जाय तो एक विन्दु पर हम बहुत देरतक भी ठहर सके हैं। जब यह जाप पूर्ण होजाय तब शांत स्वरूप ज्ञानमय आत्माको ही अनुभव करे।

(११) यह लोक सर्वत्र अनंतानंत आत्माओंसे भरा है, कोई स्थान ऐसा नहीं है जहां आत्मा नहीं। ये सब आत्माएं जाति अपेक्षा एक हैं। सब ही चेतना तथा आनन्दमय हैं, सब हीका सत् स्वरूप वास्तवमें शुद्ध निर्विकार है। इस तरह देखनेसे यह सर्व लोकाकाश या विश्व एक आत्मामय शुद्ध क्षीर समुद्ररूप या शुद्ध स्वच्छ उद्योतरूप या शुद्ध स्फटिक रूप दीखनेमें आवेगा। उस समय अपनेको भी इसीमें मग्न लोकमात्र एक ज्ञानपिंडका अनुभव करे। जहां देखे वहां सत् चित् आनन्दमय पदार्थका ही दर्शन करे। इस तरह अनुभव करे। यह अनुभव परम समता भावको प्रगटानेवाला और परम सुख शांतिका भोग करानेवाला है।

इसी तरह आत्म विचार व आत्मध्यान करनेके प्रकार हो सकते हैं। इन सर्व विचारोंके करनेमें मुख्यतासे आत्माके सत्स्वरूपकी पूर्ण रुचि आवश्यक है। जिस सत्स्वरूपको

जानकर दृढ़ श्रद्धान किया है उसीका मनन करना सुख और शांतिको प्रगटानेवाला है। वह मनन या ध्यान जिस किसीसे चाहे जिस प्रकार हो उसी तरह उससे किया जा सकता है। ऊपरके कुछ प्रकार दृष्टांतरूपसे बताए गए हैं।

जब हमारा मन व जिस किसीका मन ऊपरकी तरह आत्म विचार व ध्यानमें न लगे तो हम आत्माका स्वरूपको कहनेवाले भजन, पद, गान आदि गा सक्ते हैं। यदि यों ही चित न लगे तो बाजेके साथ आत्म स्वरूपका भजन कर सक्ते हैं। अथवा आत्माके सत स्वरूपको मुख्यतासे बतानेवाले जो शास्त्र हैं उनका स्वाध्याय विचारते हुए कर सक्ते हैं जैसे—

१ श्री परमात्मा प्रकाश-योगेन्द्राचार्य कृत-संस्कृत टीका ब्रह्मदेव व हिन्दी टीका सहित .... ३)
२ वृहत् द्रव्य संग्रह नेमिचंद्र सिद्धांती कृत संस्कृत टीका ब्रह्मदेव व हिन्दी टीका सहित .... २)
३ ज्ञानार्णव शुभचंद्राचार्य कृत हिन्दी टीका सहित.... ४)
४ श्री समयसार-कुंदकुंदाचार्य कृत संस्कृत टीका अमृतचंद्र और जयसेन .... ४)
५ श्री समयसार आत्मख्यातिकी हिन्दी टीका .... ४)
६ „ तात्पर्य वृत्तिकी हिन्दी टीका .... २॥)
७ श्री परम-ध्यात्म तरंगिणी अमृतचंद्र आचार्यकृत टीका शुभचंद्र संस्कृत हिन्दी सहित .... ३।)
८ श्री योगसार—अमितगति आचार्य कृत हिन्दी टीका सहित .... २)

९ श्री अध्यात्मतरंगिणी—ज्ञानभूषणकृत हिन्दी टीका सहित ....

१० श्री आत्मप्रबोध--कुमार कवि कृत हिन्दी टीका सहित

अनुभवानन्द, सम्पादक कृत .... ॥)

सुखसागर भजनावली ,,

मिलनेका पता—आत्म धर्मसम्मेलन आफिस

चन्दावाड़ी–सूरत।

अथवा हम उन महात्माओंकी ध्यानाकार मूर्त्तिकी स्थापना कर जिन्होंने आत्मानंदका विलास किया था–परम वीतरागताका अनुभव किया था व साक्षात् परमात्मपद प्राप्त किया था उनको वही मानकर उसी तरह भक्ति करें जिस तरह कहीं पर कोई राजा परदेशमें होता है तो उसकी प्रतिकृतिको रखकर, वार्षिक राज्याभिषेकके उत्सव पर उसी प्रकारकी विनय करते हैं ऐसी साक्षात् राजाकी होती है। इस तरह महान आदर्शरूप पुरुषोंकी ध्यानाकार मूर्तिके सम्बन्धसे तथा जल चंदन अक्षत आदि द्रव्यको चढ़ाते हुए व उस सम्बन्धी लिखे या छंदोंको कहते हुए व स्तुति पढ़ते हुए तथा अंतरंगमें आत्मगुणका चिन्तवन करते हुए इस तरह पूजा व भक्ति करनेसे भी सुख शांतिका लाभ होता है। यहां यह स्थापना हमारे मनके लिये विचार करनेको मात्र एक अवलम्बन मात्र है। भक्तिके पीछे हम वहीं खड़े हुए अपने आत्माको भीतर उसी प्रकार अनुभव करें।

जिस तरहसे भी अपने आत्माके गुणोंका विचार हो सके उस

तरह अभ्यास करते हुए सुख व शांतिका लाभकर जीवनको आनन्दमय बनाना चाहिये। स्वरूपानुभवमें ही सुखशांति है अन्य रूपसे नहीं।

जब अभ्यास दशा होती है तो पूजा, भक्ति, भजन ग्रन्थ वांचन विचार, ध्यान आदि सभी उपायोंसे आत्माके गुणोंकी तरफ अपने मनकी दौड़ वारवार जानेके लिये अभ्यास करना होता है। जैसे मक्खी अनेक पुष्पोंसे मधुको ग्रहण कर संग्रह करती है व स्वाद लेती है उसी तरह अभ्यास करनेवाले आत्म-तत्व खोजीको होना चाहिये।

सुख व शांतिके अनुभवके लिये मुख्य वात आत्माके सत्स्वरूपका यथार्थ ज्ञान है जब तक दृढ़ श्रद्धा व रुचिसहित सुखके भंडार आत्मपदार्थका निक्षेप न होगा तब तक हम किस तरह उस तरफ अपने मनको ले जाकर उसका अनुभव करेंगे और सुख व शांति प्राप्त करेंगे? और जब आत्मनिश्चय होगा तब जैसे किसी आशक्त मनका भाव वारवार अपनी प्रिय तथा स्त्रीपर जाता है उसी तरह आत्मरुचिकारी मनका भाव वार वार अपनी आत्माके सत्स्वरूप पर जाता है।*

---

* यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धातत्रैव जयते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्त तत्रैव लीयते ॥ ९५ ॥
(समाधिशतक पूज्यपाद)

भावार्थ-जिधर मानवकी बुद्धि जमती है उधर ही श्रद्धा या रुचि पैदा होतीं है तथा जहां ही श्रद्धा होती है वहां ही चित्त लीन होता है।

तथा जिसको जितनी निश्चिन्तता व अवकाश होता है वह उतना ही आत्माके विचारमें लगातार रह सक्ता है। परन्तु यह आत्मनिश्चय हरएक मनुष्यको हो सक्ता है चाहे वह जिस देशका हो। इसके लिये यह बाधा नहीं है कि वह भारतका जन्मा नहीं है। युरोप, अमेरिका, आफ्रिका, आष्ट्रेलिया कोई भी द्वीप व कोई भी देशका हो तथा यह कोई भी वर्ण व जातिका हो चाहे वह उच्च घरानेका हो या नीच घरानेका हो, चाहे वह ऊंचा उत्तम व्यापार करता हो चाहे वह नीचा-मजदूरी आदिसे पेट भरता हो, चाहे वह युद्धका सिपाही हो चाहे वह कूड़ा ढोनेवाला मेहतर हो, हरएक मनुष्यके लिये यह आत्माका सत्स्वरूप क्या है व मेरा सत्स्वरूप क्या है व मैं कौन हूं? इस प्रश्नका समाधान होकर निर्णय हो जाना और शंका रहित निश्चय प्राप्त होजाना बाधक नहीं है। यद्यपि भिन्न२ स्थितिके लोग भिन्न२ गृहस्थीके आडम्बरोंमें पड़े हुए एकसा अवकाश आत्मविचारका नहीं पा सक्के। तो भी जो आत्मरुचि है वह कोई भी काम करते हुए जब स्मरणमें आ जाती है तब सुख व शांतिका अनुभव उस क्षणमें कराके रहती है। एक युद्धमें लड़नेवाला सिपाही जब कभी आत्माकी तरफ मनको ले जाता है तुरंत सुख शांतिका अमृत पीकर संतुष्ट होकर ताजा हो जाता है। युद्धमें मारे जानेपर व कंठगत प्राण होनेपर यह आत्मरुचि एक ऐसी वस्तु है जो तुर्त चित्तसे युद्ध सम्बन्धी विचार व शत्रुके द्वेषको हटा देती है और आप आकर उस मरनेवाले प्राणीको सुख व शांतिका अमृत पिलाती है जिसको पीता हुआ

वह सुखसे देह छोड़ किसी अच्छे शरीरमें प्राप्त होता है। इस आत्माकी रुचिकी महिमा कही नहीं जा सकती।

जगतके कल्याणका यदि कोई सच्चा उपाय है तो यह आत्माकी रुचि है। आत्मरुचिके साथ आत्माका विचार करते करते ऐसी अवस्था हो सक्ती है कि उस मानवको विना किसी श्रमके स्वयं आत्माका दर्शन होजाया करे। जब दृढ़ अभ्यास हो जाता है तब जैसे कपड़े पहने हुए मनुष्योंको देख कर सहज ही यह भाव होता है कि यह कपड़े अलग हैं तथा यह मनुष्य भीतर नंगा अलग है उसी तरह अपने व दूसरोंके शरीरोंको देख कर यही ज्ञान होता है कि इन शरीरादिके भीतर चैतन्य ज्योति जो कोई है वही आनन्दमई प्रभु है और वही सुख व शांतिका भंडार है।*

इसीसे यह निश्चय रखना चाहिये जिस सुख व शांतिको हम चाहते हैं वह हमारी ही आत्मामें है और वह आत्माके सत्स्वरूपका निश्चयपूर्वक मनन, भजन, भक्ति, विचार व ध्यान आदि अनेक उपायोंसे अनुभवमें आती है। इसलिये अभ्यास करनेवालेको २४ घंटेमेंसे कुछ भी समय इस आत्मविचारके लिये निकाल कर परम सुखके विलासका उपाय करना चाहिये।

---

*घने वस्त्रे यथात्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः॥ ६३॥
(समाधिशतक पूज्यपाद)

भावार्थ—घने कपड़ेको देख कर जैसे शरीरको घन नहीं समझा जाता उसी तरह घनी या मोटी देहको देख कर बुद्धिमान आत्माको घन नहीं मानता है।

ऊपर जो आत्माके विचारके अभ्यासीके लिये यह कहा कि वह अपनी देहमें देह प्रमाण स्फटिककी मूर्तिवत् आत्माको विचारे यह इस लिये कहा गया कि मन जब तक कोई नकशा या रूप अपने अवलम्बनके लिये नहीं पाता है तब तक वह उधर लक्ष्य नहीं जमाता है। इस लिये यह एक आश्रय मात्र है। पर जब अभ्यास अधिक हो जाता है तब मनमें एक दफे स्मरण किया कि आत्मा आप अपनेको अपनेमें आप ही अनुभव करता है—उस समय उस दशाको स्वसंवेदन दशा या स्वानुभव दशा, कहते हैं। उस समय आत्माका जैसा कुछ सत्स्वरूप चैतन्यमई और आनन्दमई है वैसा उसके अनुभवमें होता है—उस समय कोई संकल्प विकल्प नहीं रहते। उस समय मन भी परे रह चुपसा हो जाता है। जब वह दशा रहती है तब मनमें यह विकल्प होता है कि इतनी देर मैंने महा आनन्द भोगा।

चौथा अध्याय।

जगतके साथ काम करनेका मार्ग प्रेम और प्रेमरूप व्यवहार है।

यह बात पहले कही जा चुकी है कि हरएक प्राणीमें भिन्न २ आत्मा है। आत्माकी सत्ता सदा से है और सदा रहेगी। पर आत्मा जब शरीरोंके साथ है तब उन शरीरोंको अपना सेवक व कोई २ स्वयं आप ही मानकर उनसे व उनके सहकारी और पदार्थोंसे राग करता है। इसलिये हरएक आदमी चाहता है कि मुझे अर्थात मेरे सेवकोंको या जिनको मैं नामसे कहता हूं उनको कोई अन्य प्राणी अपने मन, वचन, कायसे किसी प्रकारका दुःख न देवे। जिसका मतलब यह होता है कि कोई मुझसे द्वेषभाव न करे अर्थात मेरी तरफ अन्य प्राणियोंका प्रेमभाव हो। तब जिस किसीके भावमें सबसे प्रेमभाव चाहनेकी इच्छा होगी उसका यह स्वयं कर्तव्य या धर्म होजाता है कि वह स्वयं किसीसे द्वेषभाव न करके प्रेमभाव रक्खे अर्थात अपने भावोंमें जगतके साथ प्रेमभाव करे प्रेमके साथ बोले और प्रेमके साथ वर्ते। जैसा हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ वरतें वैसा हमको भी दूसरोंके साथ वर्तना चाहिये।

इसीसे यह हरएक प्राणीका धर्म है कि अन्य प्राणियोंका बुरा न विचारे, उनके प्रति अहितकर वचन न कहे. उनकी बुराई न करे अर्थात सबके साथ प्रेमभाव रख कर हित सोचे व करे।

इस सिद्धांतको अहिंसाका सिद्धांत कहते हैं। जैसा पहले कह चुके हैं कि सुख व शांतिके लिये आत्मविचारकी आवश्यकता है और वह आत्मविचार आत्माके सत्स्वरूपके निश्चय पर अवलम्बन रखता है। इससे आत्मनिश्चय ही वह जड़ है जिस पर सुख शांतिका लाभ निर्भर है। इसी तरह हम जगतके साथ प्रेम पूर्वक व अपने साथ जगत प्रेम पूर्वक वर्ते यह बात सुख व शांतिके बाहरी निमित्त जो हमारे मन, वचन काय हैं व अन्य सम्बन्ध हैं उनको योग्यताके साथ टिके रहनेके लिये कारणभूत हैं। इस प्रेम पूर्वक वर्तनकी जड़ अहिंसाके सिद्धांतकी रुचि है। अपना आत्मा सो ही दूसरोंकी आत्मा, अपने आत्माके सम्बन्धी मन वचन काय सो ही दूसरोंके सम्बन्धी मन वचन काय, अपने मन वचन कायोंको क्लेश सो ही दूसरोंके मन, वचन कायोंको क्लेश; इस तरह जो अपने आपको जगतके एक शरीरमें रहते हुए आत्माके समान जानता है वह अहिंसाके सिद्धांतको भलेप्रकार समझता है। जिसका भाव यह है कि जैसे एक शरीरके किसी अंग या उपांगमें कोई पीड़ा होती है तो सारा शरीर पीड़ित हो जाता है यहां तक कि यदि पगमें कोई कांटा भी लग जावे तो उसके स्पर्शके ज्ञानसे जो कुछ वेदना होती है वह सर्व शरीरको होती है। और यदि कोई भी इन्द्रिय या मन किसी विषयसे संतोष प्राप्त करे तो सारा शरीर उस निमित्तसे प्रफुल्लित हो जाता है– रोमांच खड़े हो जाते हैं। इसी तरह जब हमने जगतको एक शरीर माना और जगतके भीतर भिन्न २ प्राणियोंके सामान्य समुदायको अंग और उस अंगके आश्रयीभूत प्रत्येक प्राणीको

उपंग मांना तब जैसे एक किसी उपंग या अंगमें कष्ट होतो वह सारे जगतरूपी शरीरको उस कष्टका बोध होना चाहिये। इसी तरह यदि किसी अंग या उपंगमें साता हो तो सारे जगतरूपी शरीरको उस साताका बोध होना चाहिये। अर्थात् जगतके दुःखमें दुःखी और सुखमें सुखी होना चाहिये। इस कहनेका अभिप्राय यही लेना चाहिये कि वह अपनेको जगतका एक उपंग समझे और जगतके किसी भी अंग या उपंगमें जो दुःख हो या उस पर आपत्ति आवे उसे अपनेका दुःख या आपत्ति समझे यही जगद् व्यापी **अहिंसाका सिद्धांत है**। इसी सिद्धांतका अनुयायी आप निर्भयरूप रहता है और जगतको अभयदान देता है अर्थात उनके लिये आप भयरूप नहीं होता है इसी सिद्धांतको जगतप्रेम Universal love या जगत भ्रातृभाव Universal Brotherhood कहते हैं। यह जगत प्रेमके सिद्धांत का श्रद्धान संतोषित और प्रफुल्लित रखनेवाला है। इसके विरुद्ध द्वेषके सिद्धांतका श्रद्धान असंतोषित और म्लानित रखनेवाला है। जगतप्रेमकी रुचि जब होती है, मन पवित्र बलवान, दृढ़ और साहसी रहता है; बचनोंमें प्रेमरस, विश्वासयुक्तता, बलिष्ठता, सत्यता, निर्भयता और साहसपन रहता है. शरीरमें प्रफुल्लिता, बलिष्ठता, दृढ़ता, निरोगता, कार्यकुशलता तथा सौन्दर्य्य रहता है। इसके विरुद्ध द्वेषकी रुचि मनको ग्लानित, निर्बल, दीन, वचनको निर्बल, असत्य और भय सहित तथा शरीरको उदास, निर्बल, रोग सहित, कार्यविमुख और कुरूप कर देती है।

यह बात सबको प्रगट है कि हर्षकी बात सुननेसे व एक

मित्रका दर्शन करनेसे चित्त व शरीर प्रफुल्लित होता व कि दुःखकी बात सुननेसे, शत्रुका दर्शन होनेसे मन उदास, दुःखी व शरीर विकृत आकार तथा क्लेशित दिखता है ।*

---

* अहिंसैकाऽपि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम् ।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपः श्रुतयमोत्करः ॥ ४७ ॥
किन्त्वहिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी ।
तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती ॥ ५० ॥
अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम् ।
पश्यात्मसदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरम् ॥ ५२ ॥
जायन्ते भूतयः पुंसां याः कृपाक्रान्त चेतसाम् ।
चिरेणापि न ता वक्तुं शक्ता देव्यपि भारती ॥ ५३ ॥
किं न तप्तं तपस्तेन किं न दत्तं महात्मना ।
वितीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥ ५४ ॥
यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम् ।
तथा तथा विवेकश्रीः परां प्रीतिं प्रकाशते ॥ ५५ ॥
यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम् ।
दौर्भाग्यादिसमस्तं तद्धिंसा संभवं ज्ञेयम् ॥ ५८ ॥
(ज्ञानार्णव अहिंसा प्र, शुभचंद्रकृत)

भावार्थ—यह अहिंसा अकेली ही जीवोंको जो सुख, कल्याण तथा अभ्युदय देती है वह तप, स्वाध्याय, और यम नियमादि नहीं दे सकते । यह अहिंसा प्राणियोंकी माताके समान रक्षिका तथा स्त्रीके समान रमानेवाली और सरस्वतीके समान सदुपदेश देनेवाली है । हे भाई ! तू प्राणियोंको अभयदान दे, उनसे प्रशंसनीय मित्रता कर और सब चर अचर विश्वके प्राणियोंको अपने समान देख । दयावान मानवोंको जो विभूतियें प्राप्त होती हैं उनका वर्णन सरस्वती देवी भी बहुत काल करे तो भी नहीं कर सकती । जिसने प्राणियोंसे प्रीतिकर अभयदान दिया उस महात्माने कौनसा तप न तपा व कौनसा दान नहीं दिया ?

प्रत्येक प्राणीके लिये यह आवश्यक है कि जिन कारणों या मन वचन काय आदि सहायकोंसे जगतमें चलना है उनको सुन्दर, प्रफुल्लित, दृढ़, साहसी, वलिष्ट, और पवित्र रखें तब ही वे योग्य व्यवहार कर सकेंगे। तब यह उचित हो जाता है कि प्रत्येक मानव प्रेम रसका प्याला पिये–प्रेमभावको गलेका हार वनावे–पवित्र प्रेमके रंगमें रंगे–निःस्वार्थ भावसे प्रेमका अनुयायी हो–यही अहिंसाके सिद्धान्तका मानना है। इसीलिये हमें यह भी उचित नहीं है कि हम अपने भावोंमें घृणाके भावको लावें। हममें सहनशीलता, जुगुप्सा रहितता, द्वेषकी अभावता अवश्य रहनी चाहिये। जगतमें भिन्न २ धर्मके उपासक लोग हैं उनसे कोई घृणा या द्वेप भाव न लाना चाहिये। जगतमें भिन्न २ देश, भिन्न २ वर्ण, भिन्न २ जाति, भिन्न २ व्यवसाय, भिन्न २ प्रकृतिके लोग हैं उनमें हमें किसी पर भी द्वेष या घृणाका भाव नहीं रखना चाहिये। उन सब प्राणियोंको भिन्न २ रंगके वस्त्र पहरे हुए अपने ही भाइयोंके समान जानना चाहिये। आत्माकी जाति समान है। भिन्न २ सूक्ष्म व स्थूल शरीरोंके सम्बन्ध भिन्न २ प्रकारके वस्त्र हैं। ऊपरके फर्कसे उन पर कुभाव रखना वृथा अपने मन, वचन, कायको निर्वल रखना है। यह वात भी बहुत ठीक है कि जो कोई अप्रेम भाव अपनेमें होगा

अर्थात् सब तप व दान किया। मनुष्योंके हृदयमें जैसे जैसे दयाभाव स्थिर होता है वैसे वैसे विवेकरूप लक्ष्मी परम प्रीति प्रकाश करती है। इस संसारमें जीवोंके जो कुछ दुःख, शोक, व भयका बीज है तथा दुर्भाग्य आदि है सो सब हिंसासे पैदा हुए जानो।

उसका बुरा असर पहले अपने ही मन, वचन, काय पर पड़ेगा। दूसरेकी बुराई उसकी स्थितिके ऊपर है। इसीलिये यह भी विद्वानोंका वचन है कि मानवोंको अपने दिलमें सदा यह भावना रखना चाहिये कि मैं सर्व प्राणीमात्रके साथ मैत्री या प्रेमभाव रक्खूं, गुणवानोंके ऊपर प्रमोद या हर्ष भाव करूं, दुःखी प्राणियों पर दया भाव करूं और जो अपनी सम्मतिसे विपरीत हैं, अविनयी हैं, दुष्ट हैं व मूर्ख हठी हैं उन पर माध्यस्थ भाव अर्थात् रागद्वेषसे रहित समभाव रक्खूं। व्यवहारमें चलनेवाले मनुष्यको इस तरहका प्रेम या शुभ भाव अपने मनमें रखना चाहिये। यही भाव हमारी आत्मोन्नतिमें वाधक न होकर मानसिक, शारीरिक तथा आर्थिक, सामाजिक व राष्ट्रीय उन्नतिमें सहायक है।

इसी सिद्धांतको मनमें रखनेवाला एक क्षत्री राजा अपने शत्रु राजाको वश तो करना चाहेगा पर भीतरसे उसकी आत्माका व उसके मन, वचन, कायोंका बुरा हो ऐसी भावना न करेगा। इसका मतलब यह है कि वह उसको अपने आधीन कर लेगा। जब वह आधीन हो जायगा तब उसको क्षमा देकर उसका यथोचित आदर करेगा। यदि वशमें न आवेगा तो फिर युद्धमें जो हो सो हो। अन्य उपायसे आधीन न होनेवाले शत्रुके लिये तो युद्ध ही करना होता है। तथा ऐसा युद्ध करते हुए भी यदि उसे बाहरसे द्वेष भाव दिखाना व द्वेषरूप व्यवहार करना पड़ता है पर भीतर मनमें उसका सर्वथा बुरा हो ऐसा नहीं चाहता है। इसीसे अहिंसाके सिद्धांतका माननेवाला उन उपायोंकी सदा ताक रखता है जिससे शत्रु जीता हुआ ही अपने आधीन हो जावे।

यद्यपि अहिंसाका सिद्धांत परम सुखदायी सिद्धांत है तो भी इसका व्यवहारमें पूर्ण वर्तन हरएक मनुष्यसे उस सिद्धांतको अपनी रुचिसे अच्छा मानने पर भी उसी तरह नहीं हो सक्ता जिस तरह आत्माके सत्स्वरूपका पक्का रुचिवान होने पर भी उसी स्वरूपके ध्यानमें हरसमय लवलीन रहना हरएक मनुष्यसे नहीं हो सक्ता। इसका कारण यही है कि जगतमें अनेक प्रकारकी स्थितिके मनुष्य हैं—सबके मन, वचन, काय एकसे नहीं व सबके बाहरी संयोग एकसे नहीं। इससे ऐसे सिद्धांतका रुचिवान भी अपनी शक्ति, स्थिति व बाहरी संयोगोंके अनुकूल इस अहिंसा व प्रेमके सिद्धांतका पालन कर सकता है। जैसे किसीका पुत्र बीमार है वह चाहता तो यह है कि मैं इसकी ऐसी सेवा करूं जिससे यह इसी समय अच्छा हो जाय पर अपनी शक्तिके अभावसे वह ऐसा करनेके लिये लाचार हो जाता है, ऐसे ही यह मानव अहिंसाको प्यार करते हुए भी उसका पालन अपनी शक्ति स्थिति व संयोगोंके बाहर नहीं कर सक्ता।

जगतके भीतर व्यवहारमें वर्तन करनेवाले लोगोंके हिंसा दो प्रकारकी देखी जाती है। एक निरर्थक, दूसरी सार्थक। जगतके अधिक मानव निरर्थक हिंसा करके जगतके प्राणियोंका संहार करते हैं। इसलिये मानवोंको निरर्थक हिंसासे बिलकुल बचकर सार्थक हिंसाको भी अपनी जैसी स्थिति हो उसके अनुकूल मर्यादामें रहते हुए यथाशक्ति घटाते चले जाना चाहिये। इसतरह व्यवहारमें चलते हुए जब किसी मानवकी ऐसी स्थिति हो जाती है कि वह पूर्ण अहिंसाका पालन करे। वह उसे अवश्य पालन करता है और अ-

पने प्रेमसे भरे हुए श्रद्धानके अनुकूल अपना प्रेममयी चारित्र देखकर कृतार्थ और सुखी हो जाता है। यही अहिंसाके पालनकी विधि है।

निरर्थक हिंसाके प्रकार–(१) धर्मके नामसे हिंसा–जगतके मनुष्योंमें इस तरहका श्रद्धान बैठा हुआ है कि कोई ईश्वर, देव या देवी ऐसे हैं जो इस बातसे प्रसन्न होते हैं कि उनके नामसे भैंस, बकरा, गाय, घोड़ा, बैल, भेड़, मुरगा आदि पशुओंका तथा मनुष्यका वध किया जाय अर्थात् इनकी बलि की जाय तो वे इस प्रसन्नताके बदलेमें पुत्र, पौत्र, सम्पत्ति, राज्य, स्वर्ग आदि देते हैं। इस श्रद्धाके वशमें पड़कर भारतवर्षमें पहले बहुत यज्ञ होते थे जिनमें बहुत पशु निर्दयतासे वध किये जाते थे व ऐसे यज्ञ अब भी कभी कभी हो जाते हैं परंतु देवी देवताओंके मठोंपर पशुओंको उनके सामने मारकर चढ़ानेका रिवाज तो अभीतक चल रहा है। जिस काममें साक्षात् पशु मारे जाते हों वहां मारनेवाले व ऐसा करनेकी आज्ञा देनेवालेके कैसे क्रूर भाव होते होंगे? उन भावोंका फल शुभ कैसे हो सक्ता है? जहां अप्रेम या द्वेषभाव इतना भारी हो कि इन पशुओंकी हिंसासे वृथा ही स्वार्थसिद्धि होती समझी जाय वहां पुण्यबंध हो यह कैसे माना जाय? भारतमें जो ऐसा कहते व करते हैं उन्हींके माने हुए व्यासजीका यह वचन है—

परोपकारं सुखाय, दुःखाय परपीड़नम्।
अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्॥

जिसका अर्थ यह है कि अठारह पुराणोंमें व्यासजीका

यही वचन है कि परांया उपकार करना जब सुखके लिये तब दूसरोंको पीड़ा देनी दुःखके लिये है। परंतु हमें यहां इस सम्ब-न्धमें अधिक विचार न करके इतना ही अपनी साधारण बुद्धिसे विचारना चाहिये कि इस तरह किसी देवी देवताको प्रसन्न करके पुत्र, पौत्र, धनादि प्राप्तिके लिये ऐसे पशुवध करना योग्य है या नहीं ? साधारण बुद्धि इस बातको स्वीकार कर लेती यदि इस कार्यके विना धनादि नहीं आते होते। करोड़ों मानव इस हिंसामई भावको भी न करके बाहरी अपने द्वारा किये हुए अनेक उंद्योगोंसे और अंतरंगमें पुण्य कर्मके विपाककी सहायतासे धन, पुत्र, पौत्र, राज्य आदिका लाभ करते हैं और जगत्की दृष्टिमें सुखी दीख पड़ते हैं। यदि देवी देवताओंसे मिलती तो ऐसा करनेकी जरूरत न थी। इसलिये इस तरहकी हिंसा निरर्थक हिंसाका एक प्रकार है। विचारवान मनुष्यको ऐसी हिंसा न स्वयं करना न कराना चाहिये। किन्तु भारतमें जो इस हेतु वे गिनती पशुओंपर निर्दयता होती है उसको अपनी शक्ति भर बहुत प्रेमके साथ किसी प्रकारकी घृणा न करके दोष दृष्टि दिखाकर दूर कराना चाहिये।*

---

* धर्मोहि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्या।
(पुरुषार्थ सि० अमृतचंद्र)

भावार्थ— धर्म देवताओंसे बढ़ता है इस लिये सब कुछ उनको देना चाहिये ऐसी खोटी बुद्धिको धारकर प्राणियोंकी हिंसा न करनी चाहिये।

शिकार व खेल तमाशेके लिये शौकीनी हिंसा– जगतमें कुछ लोग ऐसे भी पाए जाते हैं जो अपनी शौक पूरी करने, मज़ा उड़ाने, व खेल तमाशा करनेके लिये पशुओंकी हत्या व उनको कष्ट देनेमें कुछ भी विचार नहीं करते। बड़े दुःखके साथ कहना पड़ता है कि इन लोगोंका विचार निरर्थक या बे मतलब हिंसा करनेका है क्योंकि अपने मनमें जो एक कल्पना उठी कि इस मनको राजी करें उसके लिये कोई हिंसा रहित खेल तमाशे आदिसे अपना काम अच्छी तरह निकाला जा सकता है जैसे गेंद खेलना, दौड़ करना, गाना बजाना आदि। ऐसे खेल जिनमें पशुओं, पक्षियों जलचरोंकी हिंसा हो उनको कष्ट हो और हम उनको मरने व दुःखी होने देखकर खुशी मनावें कभी भी उचित नहीं हो सक्ता। क्या यह ठीक है कि हमारी बन्दूक या तीरसे दीन हिरण मारा जाय? क्या यह उचित है कि स्वतंत्रतासे घूमनेवाले कपोत, काक आदि पक्षियोंको हम केवल शौकके वश हो बाण या बन्दूकसे मार डालें? क्या यह निर्दयता नहीं है कि जलकी मछलियोंको जलसे निकाल जमीनपर डालना और उनकी तड़फनको देखकर खुश होना? इसी तरह जिस पशुवध या पशुकष्टमें अपने मनका केवल शौक मात्र पूरा हो ऐसा शिकार आदि खेल करना मानवके लिये उचित नहीं है। बहुतसे लोग पशु पक्षियोंको आपसमें लड़ाकर उनका तमाशा होकर आप खुश होते हैं सो ऐसा भी करना ठीक नहीं है क्योंकि इससे पशु पक्षी परस्पर घायल हो जाते हैं तथा कभी कभी कोई मर भी जाता है। इसीतरह बहुतसी अंग्रेज स्त्रियां या

लड़के जो टोपी पहनते हैं उनमें पक्षियोंके पर लगाते हैं जिससे ऐसा समझते हैं कि हम बहुत अच्छे दिखेंगे। इस शौकके कारण परोंका व्यापार इतना बढ़ा है कि बहुतसे शिकारियोंने यह धन्धा कर लिया है कि पक्षियोंको मारकर पर लाना और बेचना। किसीकी हानि न करके स्वच्छंदतासे घूमनेवालों पक्षियोंका इस वृथाके शौकसे संहार होता है। इसे भी रोका जा सक्ता है। शौकके कारण चमड़ेकी वस्तुओंका व्यवहार यहां तक बढ़ गया है कि टोपीमें चमड़ा, कमरबंधमें चमड़ा, चमड़ेका वेग, चमड़ेका बिस्तर-बंध, चमड़ा लगी घड़ी आदि चर्म वस्तुओंके अधिक प्रचार होनेसे चर्मका व्यापार बढ़ गया है। चर्मकी आवश्यक्ताने यह अवस्था कर दी है जिससे अनेक बैल, भैंस, गाय आदि पशु तक अच्छे दामोंमें कसाइयोंके हाथ बेंचे जाते हैं और अपने प्राण गंवाते हैं। यह भी निरर्थक हिंसा है। जूतोंका रिवाज बहुत दिनोंसे है इसे यदि रहने दिया जाय तो और वस्तुएं जो कपड़े आदिकी बनी बहुत अच्छी मिल सक्ती हैं उनको व्यवहार करके क्यों न अधिक चर्मके व्यवहारको बंद करके पशु हिंसाके रोकनेमें सहाई हुआ जाय? जूतोंके लिये भी जो दयावान हैं वे कपड़े, रबड़ आदिके चर्म रहित साधारण और बढ़िया जूते जो मिल सक्ते हैं उनको यदि काममें लेवें और चर्मके जूतोंके रिवाज कम करें तो और भी अधिक पशु हिंसाका निरोध हो सके।

हड्डीकी वस्तुओंका रिवाज भी एक शौकीनी रिवाज है। इस कारण भी बहुतसे पशु निर्दयतासे मारे जाते हैं। हाथी दांतके अधिक खर्च होनेसे हाथियोंको बड़ी निर्दयतासे या तो शस्त्रसे या

भूखा रखकर मारा जाता है। भारतकी बहुतसी स्त्रीसमाजमें हाथीदांतकी चूड़ियोंके पहननेका शौक है। दयावानोंको उचित है कि इस शौकको बन्द करें।

हड्डी मिली या उससे साफ की हुई शक्करका भी रिवाज बहुत हो गया है जिससे हड्डीका व्यापार चमकनेसे भारतमें बहुतसे पशु इसीलिये मार डाले जाते हैं। यदि जनसमुदाय प्राचीन कालके अनुसार ईख आदि रसोंकी बनी देशी शक्कर काममें लावे और हड्डी-वाली शक्करको काममें न लेवे तो बहुतसे पशुओंका वध बन्द हो सकता है। यह भी एक शौकीनी निरर्थक हिंसा है। क्योंकि लोग इस शक्करका रंग बहुत सफेद देखकर व्यवहार करते हैं कि इससे बनी वस्तु बहुत श्वेत दीखेगी। जो वस्तु खानेके काममें आती है उसमें रसकी स्वच्छता व अधिकता न देखकर रंगत पर लुभाना मूर्ख शौकीन लोगोंका काम है। बहुतसे लोग अपनी शौकनीमें पड़कर अपने यहां पले हुए घोड़ोंकी दुम काट डालते हैं जिससे बिचारे घोड़ोंको बहुत तकलीफ होती है। घोड़ोंके पास दुम उनको अपने शरीर पर बैठनेवाली मक्खी, मच्छर आदि जंतुओंको उड़ानेके काममें आती है। दुम न रहनेसे उनको बहुत बड़ा कष्ट सहना पड़ता है। ऐसी अनेक हिंसाएं हैं जो जनसमुदाय केवल शौकमें पड़ अन्धा हो कर डालता है। ऊपर कुछ दृष्टांत मात्र बताए गए हैं।

(३) बेपरवाहीसे हिंसा—मनुष्योंकी बेपरवाहीसे वृथा ही पशु पक्षियोंको बहुत कष्ट भोगना पड़जाता है। जैसे बाजारोंमें जो पक्षी बिकने आते हैं उनमें बहुतोंको ऐसे छोटे २

टोकरों या पिंजरोंमें रखा जाता है जिनमें रह कर वे विचारे श्वास भी नहीं ले सके। उनको भूखे प्यासे बंद रह कर जो त्रास भोगना पड़ता है उसका वर्णन होना शक्य नहीं है। इसी तरह जो बैलादि पशु मारे जानेके लिये एक स्थानसे दूसरे स्थान पर भेजे जाते हैं उनको बहुत ही तंग स्थानमें बंद कर भेजा जाता है जिससे वे महा दुःखी होते हैं। बाजारोंमें जो पक्षियोंको खरीद कर नौकर आदि लाते हैं वे उनको परोंसे पकड़ कर मुंह उल्टा करके लाते हैं ऐसी स्थितिमें मारे जानेके पहले ही उनको बड़ा कष्ट भोगना पड़ता है। ऐसी ही और भी मनुष्योंकी बेपरवाहीसे जो हिंसा होती है वह निरर्थक हिंसा है।

(४) औषधिके लिये पशुघात—इस जगतमें जड़ी-बूटियोंकी इतनी बहुलता है कि जिससे प्रायः सभी रोगोंके लिये दवाइयां बन जातीं व बनाई जा सकी हैं। आयुर्वेदीय व यूनानी चिकित्सामें वैद्य या हकीम लोग इन्हीं जड़ी बूटियोंका अथवा फूंकी हुई धातुओंका प्रयोग करते हैं। इन्हींसे बड़े २ रोगोंको अच्छा करते हैं। डाक्टरीमें भी हजारों औषधें इन्हीं जड़ी बूटियोंकी बनी आती हैं। परन्तु जिनके चित्तमें दया नहीं होती वे गाय, भेड़, मुरगे, मछली आदि पशुओंके मांसका सत निकालकर व तैल आदि तय्यारकर खाने पीनेके लिये देते हैं। यदि इनको काममें न लिया जाय तो मनुष्य समाजकी कोई हानि नहीं हो सकी है। विना मांसादिके ही रोगोंकी औषधियां बन सकी हैं, पर जो लोग मांसाहारी हैं और डाक्टर हैं उनके चित्तमें यह दयाभाव नहीं। जब रोगका इलाज और प्रकारसे हो सका

है तब औषधिके लिये पशु पक्षी व जलमत्स्यादिका घात निरर्थक हिंसा ही है।

(५) **मांसाहारके लिये हिंसा**—मांस भोजनके लिये हिंसा होनी भी निरर्थक है। क्योंकि जिस मनुष्यके लिये मांस खाया जाता है उस मनुष्यका शरीर ही मांस खानेके योग्य नहीं है। इस बात पर जर्मनीके प्रसिद्ध डाक्टर लुई कोहनी (Louis Kohne) की बनाई हुई पुस्तक New science of healing न्यू साइन्स हीलिंग् **अच्छे होनेकी नई विद्या** में बहुत वादानुवाद करके समझाया है कि मनुष्यके शरीरमें दांत ऐसे होते हैं जो न मांसाहारी पशुओंसे, न साग घास खानेवाले और न मांस और घास खानेवाले पशुओंसे मिलते किन्तु फल खानेवाले पशुओंसे मिलते हैं। बन्दर और मनुष्यके दांतोंमें बहुत अंशमें समानता है। मनुष्यका पेट भी फल खानेवाले पशुओंके साथ मिलता है। इसमें भी बन्दर ही का दृष्टान्त है। मनुष्य जो कुछ भोजन करता है उसके पास नाक, जबान इसीलिये है कि वह उनकी गंध और स्वादको जानकर फिर उसको पेटमें डाले। मनुष्यकी नाककी गंध स्वभावहीसे फल व बनस्पतिकी ही तरफ दौड़ती है। वह कभी भी शिकारी जानवरकी तरह किसी पशुपर न दौड़ेगी। इसी तरह जबान भी स्वभावसे फलके रसको लेना पसन्द करेगी वह कभी भी किसी पशुके कच्चे मांसको स्वादना पसन्द न करेगी। जैसे फल खानेवाले पशु खेत और फलदार वृक्षों ही की तरफ जाकर फल खाना पसंद करते हैं वैसे मनुष्योंका भी स्वभावसे यही हाल है। कच्चा मांस किसी भी मनुष्यकी नाक

व आंखको पसन्द नहीं पड़ेगा। उसको अनेक मसाले डालकर पकाकर स्वाद युक्त बनाया जाता है। तौ भी उसमेंसे दुर्गंध नहीं जाती। जिस बालकने कभी मांस नहीं खाया है उसको वह कभी भी पसंद नहीं आ सक्ता। छोटे बच्चे माताका दूध पीते हैं। यह दूध मांसाहारी स्त्रियोंके कम होता है। जर्मनीमें बच्चोंको पालनेके लिये वे धाएं बुलाई जाती हैं जो मांस नहीं खाती व बहुत ही कम खाती हैं। समुद्रकी यात्रामें धाओंको जईके आटेकी पकी हुई लपसी दी जाती हैं। वास्तवमें बात यह है कि मांस माताके दूध बनानेमें कुछ भी मदद नहीं देता। जिनको कभी मांस नहीं दिया गया है ऐसे बच्चोंके सामने यदि फल और मांसकी डली रखी जावे तो वह फलको तुरंत ग्रहण करेगा। इसीसे सिद्ध होजाता है कि मनुष्यका स्वभाव मांस खानेका नहीं है। उक्त डाक्टरने यह भी जांच की है कि जो बच्चे विना मांस भोजनके पाले गए उनके शरीरकी उंचाई मांसाहारी बच्चोंसे अच्छी रही। इन्द्रियोंकी तृष्णा बढ़ानेमें मांसाहार मदद देता है। मांसाहारी लड़के इच्छाओंको न रोक कर शीघ्र दुराचारी हो जाते हैं। मांसाहारसे अनेक रोग होते हैं जब कि इसका त्याग रोगोंको हटानेवाला है। थियोडवर-ह्यान साहब २९ वर्षकी अवस्थामें मरण किनारे हो गए थे परन्तु मांस त्यागने और फलाहार करनेसे ३० वर्ष और जिये।

वास्तवमें मांसभोजन मनुष्यके लिये निरर्थक ही नहीं किंतु हानिकारक है। आर्डर आफ गोल्डन एज (Order of golden age) जिसका पता नं० १५३–१५५ ब्रोम्प्टन रोड लंडन साउथ वेष्ट (No 153-155 Broumpton Road

Londen S. W.) है मांसाहारके विरुद्ध बहुतसा साहित्य प्रतिवर्ष प्रसिद्ध करती है। अपनी प्रसिद्ध की पुस्तक "दी टेष्टिमनी आफ साइन्स इन फेवर आफ दी नेचुरल एंड ह्यूमेन डाइट, (The Testimony of sceinco in favour of natural and human diet जो एक दफे ४५०००० छापी गई थी उसमें मांसाहारके विरुद्ध बहुतसे विद्वानोंकी सम्मतियां हैं। उनमें से एक दो यहां दी जाती हैं।

Dr. Josiah old fio!d D. C. L. M. A. M. R. C. S. L. R. C. P. senoir Physician Margaret Hospital Bromlay

डाक्टर जोजिया ओल्डफील्ड डी० सी० एल० एम० ए० एम० आर० सी० एस० एल० आर० सी० पी० बड़े डाक्टर लेडी मैरगेरट हास्पिटल ब्रोम्ले कहते हैं—

To day, There is tho scieutific fact assured that man belongs not to the flesh-caters, but to the fruit-eaters' Today there is the chemical fact in hand of all, which none can gainsay, that the products of the Vegetabalo kingdom Contain all that is necessary for the fullest sustenance of human life. "Flesh is an un-natural food, and threfore, tends to create functionul disturbance" As it is taken is modern civilization it is affected with such terrible diseases (readily communicable to man) as concer, consurption fever, intestinal worms etc; to an enormous retent. These is little need for wonder that

flesh eating is one of the most serious causes of the diseases that carry off ninety-nine out of every hundred people that are born"

भावार्थ—आज यह विज्ञानके द्वारा निर्णय हो गया है। कि मनुष्य मांसाहारियोंमें न होकर फलाहारियोंमें है। आज सबके हाथमें यह परीक्षा की हुई बात मौजूद है कि वनस्पति जातिकी उपजमें वह सब है जो कुछ मनुष्यके पूर्णसे पूर्ण जीवन को स्थिर रखने लिये आवश्यक है।

मांस अप्राकृतिक भोजन है और इसी लिये शरीरमें अनेक उपद्रव पैदा कर देते हैं। आज कलकी सभ्य समाज इस मांसको लेनेसे कैन्सर, क्षय, ज्वर, पेटके कीड़े आदि भयानक रोगोंसे जो एक मनुष्यसे दूसरेमें फैलते हैं बहुत अधिक पीड़ित होती है। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि मांसाहार स्वयं भयानक रोगों मेंसे एक रोग है जो १०० मनुष्योंमेंसे ९९ को पीड़ा दे रहा है

Professor G. Sims Woodhead, M. D. F. R.C. P. F. R. S. professor of Pathology Cambridge university, meeting at Cambridge.

May 12 th 1905

प्रोफेसर जी० सिम्स उडहेड एम० डी० एफ० आर०सी० पी० एफ० आर० एस, प्रोफेसर पैथेलोजी कैम्ब्रिज यूनिवरसिटी (कहा कैम्ब्रिजकी सभा मई १२ सन् १९०५)

" Meat is absolutely unnecessary for perfectly healthy resstence, and the best work can be done on a vegetarian diet. People take too much meat; and they could live much more

healthily on a vegetarian diet than a whole meat diet. Vegetarians have done a great deal in quiet way to make possibale that simpler life for which a great number of people are crying out very loudly without any definite idea of they mean.

Doctors are looking to *prevention* rather than *cure* as the great agency in raising the physical condition of the nation. The madical training of the present day is directed much more closely to the prevention of diseases than it has been before. It is being realized that riery means should be resortel to so as to prevent the accession of disease rather than merely attempt to cure it when it comes and the *Vegetarian movement* will I think, do a very great deal towards this."

भावार्थ--पूर्ण स्वास्थ्ययुक्त जीवन वितानेके लिये मांस बिलकुल अनावश्यक है केवल शाकहार पर ही बसर करनेसे सबसे अच्छा काम हो सकता है। लोग बहुत ही मांस खाते हैं। यदि वे पूर्ण मांस भोजनकी अपेक्षा शाकाहार पर रहें तो बहुत स्वास्थ्य युक्त जी सकते हैं। शाकाहारियोंने बहुत अच्छी तरह यह बात दिखला दी है कि बहुत सादा जीवन विताना संभव है जिसके लिये बहुत आदमी बहुत जोरसे चिल्लाते हैं जब कि वह यह नहीं समझते हैं कि उनके कहनेका मतलब क्या है।

डाक्टर लोग रोगोंके रोकने पर ध्यान देते हैं पर रोगोंको

अच्छा करनेमें नहीं । रोगके रुकनेको ही समाजकी शारीरिक अवस्थाकी उन्नति करनेका मुख्य साधन जानते हैं । आजकलकी डाक्टरी शिक्षा भी पहलेकी अपेक्षा अधिक ध्यान रोगोंके रोकने पर देती है । यह अनुभवमें आ रहा है कि हरएक उपाय इस बातका करना चाहिये जिससे रोग फिर होने ही न पावे केवल इतना ही ठीक नहीं है कि जब रोग आवे तब उसे रोक दिया जावे । यह शाकाहारका आन्दोलन मैं खयाल करता हूं रोगोंकि खोनेमें बहुत अधिक काम कर सकेगा ।

मांसाहार न करनेसे अकाल मृत्युकी कारण बीमारियां नहीं होती हैं जिससे मनुष्य पूर्ण आयु मरता है । इसके बहुतसे दृष्टान्त हैं ।

Mr. Samuel saunders (Heral the Golden age of July 1904)

मि० सैमुअल सान्डर्स (हेरल्ड ओफ गोल्डन एज सन् १९०४) कहते हैं—

"I have abstained from fish, flesh and fowl for 62 years, and I have been observent of ther ules of health. I have never had a head age, never been in bed a whole day from illness or suffered pain except from trivial accidents. I have had a very happy, and I hope some what useful life, and now in my 88 th year I am as light and blossom and as capable of receiving a new idea as I was 20 years ago"

भावार्थ–मैं बासठ (६२) वर्षसे मछली, मांस और मुर्गी नहीं खाता हूं तथा स्वास्थ्यके नियमानुकूल चला हूं। मुझे कभी सिरमें दर्द नहीं हुआ, कभी मैं दिन भर बिछौने पर नहीं पड़ा रहा, न साधारण अकस्मातोंके सिवाय दर्द सहन किया। मैंने बहुत हर्षयुक्त व जहां तक मैं समझता हूं कुछ उपयोगी जीवन बिताया है। और अब मैं ८८ वें वर्षमें इतना ही हलका प्रफुल्लित और नया विचार ग्रहण करनेको समर्थ हूं जैसा मैं २० वर्षकी उम्रमें था।

इसी पुस्तकमें Captain Goddard, E. diamond of san Francisco कैप्टेन गोडर्ड ई. डायमंड सान फ्रानसिस्कोका वर्णन दिया है। इसने ६३ वर्षसे मांसाहार नहीं किया और १०० वर्ष पीछे भी २० मील रोज विना थके चल सक्ता था। १०६ वर्षकी आयुमें भी बाइसिकल पर चढ़ना, सीधा खड़े होना तथा कसरत करना आदि बातें इसमें थीं। सन १९०७में इसकी आयु १११ वर्षकी थी। प्राचीन कालमें अनेक बड़े पुरुष हो गए हैं व अब हैं जिन्होंने बिलकुल मांस न खाया उनके कुछ नाम इस पुस्तकमेंसे दिये जाते हैं—

यूनानके पैथौगोरस, प्लेटो, अरिष्टाटल साक्रटीज; पारसियोंके गुरु जोराष्टर, क्रिश्चियन पादरी: जेम्स, मैथ्यू, पेटेर, अनेक विद्वान जैसे मिल्टन, इजाक न्यूटन, बेनजामिन फ्रेंकलिन, शेल्ली, एडिसन, मांसाहारियोंसे शाकाहारी शरीरकी वीरता दिखानेमें व देर तक विना थके काम करनेमें अधिक चतुर पाए गए हैं। वर्तमानमें जो चार वर्षसे जर्मनीके साथ

वृटिशका युद्ध चला इसमें मांस मदिरा देनेकी इसी लिये कमी की गई है।

मांसाहार करना मदिरा दानका मुख्य कारण हो जाता है। जिन देशोंमें मांसका कम प्रचार है वहां मदिरा भी कम है। काम करनेवाले पशु कमी मांस नहीं खाते जैसे घोड़ा, हाथी, बैल।

बहुतसे लोग समझते हैं कि मांस, मत्स्यादिमें शक्ति वर्द्धक अंश अन्नादिसे अधिक है। यह उनकी भूल है— The toiler and his food by Sir William Earnshaw Cooper, C. I. E. दी० टाइलर ऐन्ड हिज फुड पुस्तकमें जिसको सर विलियम नेशा कूपर सी० आई ई० ने रचा है भिन्न २ भोजनोंको मुकावला करते हुए शक्ति अंश किसमें ज्यादा है सो दिया है उसीका कुछ सार नीचे दिया जाता है:—

१—बादाम आदि गिरियोंमें १०० में ९१ अंश तक शक्ति देनेवाली वस्तु है।

२—सूखे मटर चने आदिमें	,,	,, ८७	,,	,,	,,
३—चावलमें	,,	,, ८७	,,	,,	,,
४—गेहूंके आटेमें	,,	,, ८६	,,	,,	,,
५—जौं के ,,	,,	,, ८४	,,	,,	,,

६—सूखे फल किसमिस, खजुर आदिमें १००में ७३ अंश शक्तिवर्द्धक अंश है

७—घीमें	१००में ८७	,,	,,
८—मलाईमें	६९	,,	,,
९—दूधमें	१४	,,	

परन्तु इसमें ८१ भाग पानी है जो भी लाभकारक होता है।

१०—अंगूर आदि ताजे फलोंमें १००में २९ भागतक शक्ति-वर्द्धक अंश है।

शेष पानी है वह भी लाभदायक होता है।

मांसमें जबकि १०० में २८ भाग शक्ति अंश है शेष पानीहै जो हानिकारक है

मत्स्यमें	,,	१३	,,	,,
अंडोंमें		२६	,,	,,

इन ऊपरके नकशेसे प्रगट होगा कि अन्न, मेवा, फल, घी दूध, मलाई ही खाने लायक पदार्थ हैं। मांस, मत्स्य, अंडे नहीं

जहांतक विचार करके देखा जायगा यही प्रगट होगा कि मांसाहार एक निर्थक भोजन है। इसी लिये इसके निमित्त जो पशु हिंसा होती है वह भी निरर्थक है। इस मांसाहारकी निरर्थकता पर मिस एनीबेसेन्टके अनुयायी थियोसोफिस्ट **मि० सी० जिनराजदास** एम० ए० (कैन्टब) ने **जीवदया ज्ञानप्रसारक फंड** (नं० ३०९ सराफा बाजार बम्बई) की वार्षिक अधिवेशनमें ता० २ सितम्बर १९१८ को भाषण देते हुए कहा था—" मांस भोजन भी स्थूल बुद्धिका काम है। इस वर्तमान युद्धके पहले पश्चिमीय देशोंमें मांसाहारकी विरुद्धता इतनी नहीं थी जितनी अब हो गई है। लड़ाकू कौमोंको शाकाहारी होना पड़ा है। क्योंकि शाकाहारसे स्वास्थ्य अच्छा रहता है। शाकाहारके विरुद्ध एक भी युक्ति नहीं है। पश्चिमीय देशोंमें दौड़ लगाने, बाईसिकलपर चढ़ने, कुश्ती लड़ने आदिमें

शाकाहारियोंने मांसाहारियों पर बाजी मार ली है। ठंडे देशोंमें भी मांसाहारकी जरूरत नहीं है। पश्चिमके सर्द देशोंमें हजारों शाकाहारी रहते हैं। मैं इंग्लैंडमें १२ वर्ष शाक भोजन पर रहा। अमेरिकाके चिकागो व कैनेडामें मैंने जाड़े शाकाहार पर काटे हैं तथा मांसाहारियोंकी अपेक्षा भले प्रकार जीवन बिताया है। शाकाहारके लाभ अगणित हैं।"

जहां कहीं मनुष्योंकी उत्पत्ति है वहां कोई न कोई वनस्पति फल आदि अवश्य पैदा होते हैं। क्योंकि जहां भूमि, जल, पवन, अग्नि पर सूर्यके आतापका सम्बन्ध हो वहां पर वनस्पति न हों यह असंभव है। इसलिये यदि बच्चोंको व मनुष्योंको मांस खानेकी आदत न डलवाई जावे और उनको शाकाहार पर रख जावे तो वे अवश्य शाकाहारपर ही अपनी जीवन यात्रा कर सकेंगे।

मांसाहारके कारण निरर्थक करोड़ों पशु निर्दयतासे वध किये जाते हैं। इस मांसाहारकी आदतने ही धर्मादिके नामसे होनेवाले पशु घातको भी चलाया है। बहुतसे उपयोगी पशु जो खेती व दूध देनेके काममें आते हैं इस मांसाहारकी प्रवृत्तिसे वध कर दिये जाते हैं। जब मनुष्यकी प्रकृतिके ही बाहर है तब जैसे घोड़े, गाय, भैंस, हाथी, ऊंट आदि अत्यन्त उपयोगी और परिश्रमी पशुओंका खाद्य मांस नहीं तब यह मनुष्यका भी नहीं हो सका।

इसी तरह और भी जो कोई निरर्थक (बेमतलब) हिंसा हैं वह न करनी चाहिये। जिस हिंसाके विना किये ही हम अपनी आवश्यक्ताओंको पूर्ण कर सक्ते हैं वह सब निरर्थक हिंसा समझनी चाहिये।

(२) सार्थक हिंसा—वह है जो क्षत्रियोंको देशकी रक्षार्थ शत्रुओंको दमन करनेके लिये युद्ध करनेमें, दुष्टोंको दंड देनेमें, शिष्टोंकी रक्षा करने आदि क्षत्रिय कर्ममें करनी पड़ती है, वैश्योंको अनेक प्रकारकी वस्तुओंको कच्चे मालसे पक्का बनवानेमें, इसी लिये कल कारखाने जारी करानेमें, मालको इधर उधर भेजने आदि व्यापारमें, खेती करने व करानेमें, तथा अन्य लिखने पढ़ने आदिके कार्योंमें व हिसाब किताब करने कराने व इधर उधर जानेमें करनी पड़ती है, शूद्रों या मजदूरदल या बुद्धि कम लगाकर हाथसे मिहनत करनेवालोंको जो वर्तन बनाने, मकान तय्यार करने, सुनारगीरी करने, लोहेकी वस्तुएं बनाने, आदि अनेक प्रकारकी शिल्प सामग्रीको तय्यार करनेमें, बोझा ढोनेमें, वाहन चलानेमें, नृत्य गान आदि करके द्रव्य कमानेमें तथा क्षत्री. वैश्य आदिकी सेवा चाकरी करनेमें करनी पड़ती है; तथा स्त्री समाजको मुख्यतासे चक्कीसे दलनेमें, उखलीमें कूटनेमें, अग्निसे रसोई आदि बनानेमें बुहारी देनेमें, पानी भरनेमें आदि और भी गृह सम्बन्धी कार्य करने करानेमें करनी पड़ती है।

सार्थक हिंसामें हिंसा करनेका मूल अभिप्राय नहीं होता है किंतु अन्य कार्योंका अभिप्राय होता है जिसमें लाचारी बश हिंसा करनी पड़ती है।

सार्थक हिंसामें प्रवर्तनेवाला दयावान अपने भीतरसे दयाभावको नहीं छोड़ता है। शत्रुओंसे भी युद्ध उसी समय करनेका प्रसंग लाता है जब अन्य कोई उपाय अपने मतलब सिद्ध करनेका नहीं देखता है। यदि शत्रु अन्य उपायसे वश हो जाता है तो कदापि एक भी मानवका संहार करना नहीं चाहता है।

जगतमें व्यवहारमें जितना अधिक लगना पड़ता है उतना अधिक सार्थक हिंसाके होनेका प्रसंग आता है पर जो आत्मानुभवको करनेवाला आत्मज्ञानी गृहस्थ है उसके द्वारा सार्थक हिंसा बाहरसे होती हुई भी वह भीतरसे आत्मामें ही महान प्रेमी है इसलिये उसकी सुख शांतिमें वह बाधक नहीं होती या होती है तो बहुत कम।

जगतमें जो प्राणी हैं वे सब एकसे नहीं हैं। जिन प्राणोंसे यह आत्मा किसी स्थूल देहमें जीता रहता है और उनके नष्ट होनेसे स्थूल शरीरको त्याग देता है उन प्राणोंके घात व कष्ट पहुंचनेको ही हिंसा होना कहते हैं *। ये प्राण संसारके प्राणियोंमें संख्यामें कम व अधिक हैं तथा शक्ति व प्रवीणताकी अपेक्षा निर्बल व सबल हैं। जिसके प्राण अधिक बलिष्ट व अधिक हैं तथा जगतके अन्य प्राणियोंको अधिक उपयोगी हैं उनके घात

---

* यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ ४३ ॥
(पुरु० सि० अमृतचंद)

भावार्थ—जो कषाय सहित मन, वचन, कायके द्वारा द्रव्यप्राण जिनसे एक शरीरमें जीता है तथा भाव प्राण जो आत्माके परिणाम हैं उनका घात या विराधन होना सो निश्चयसे हिंसा है।

होनेसे हानि अधिक होती है इसलिये हिंसाका अपराध भी अधिक है।

सब प्राण दस * (१०) होते हैं—१ स्पर्शन इन्द्रिय-जिसके द्वारा छूनेसे गर्म, ठंढा, रूखा, चिकना, नर्म, कठोर, हलका, तथा भारी मालूम होता है। २ रसना इन्द्रिय—जिसके द्वारा खट्टा, मीठा, चरपरा, तीखा, कषायला आदि किसी प्रकारका स्वाद जान पड़ता है। ३ घ्राण इन्द्रिय—जिसके द्वारा सुगन्ध, दुर्गन्धका ज्ञान होता है। ४ चक्षु इन्द्रिय जिसके द्वारा सफेद, लाल, पीला, नीला, काला आदि रंगोंकी समझ होती है। ५ कर्ण इन्द्रिय—जिसके द्वारा नाना प्रकारके शब्द अभाषारूप व किसी निश्चित भाषारूप सुन पड़ते हैं। कायबल—जिसके द्वारा शारीरिक परिश्रम व देहसे चेष्टा, हिलना, चढ़ना, फलना आदि किया जाता है। वचनबल—जिसके द्वारा अभाषारूप या भाषारूप शब्द बोला जाता है; मनबल-जिसके द्वारा अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प उठाकर तर्क किया जाता, कारण कार्यका विचार होता, शिक्षा व उपदेशका भाव समझा जाता है, बहुत पहलेसे ही कार्योंके करनेका इरादा बांधा जाता है, तथा संकेत मात्रसे

---

* पाणेहि चदु हिं जीवदि जीवस्सदि जोहु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाऊ उस्सासो ॥ ३० ॥

(पंचा० कुंद०)

भावार्थ—जो चार (या १०) प्राणोंसे जीता है, जिया था व जीवेगा जब तक संसारमें है वह जीव है।

बल (तीन मन वचन काय) इंद्रिय (पांच) आयु और श्वासोश्वास ऐसे ४ व १० प्राण होते हैं।

मतलब समझ लिया जाता है। श्वासोछवास–जिसके द्वारा वायुको भीतर लेकर शरीरमें संचार किया जाता व बाहर निकाला जाता है; तथा आयु जिसके रहते हुए शरीर बना रहता है। ये १० प्राण कहलाते हैं। इस जगतमें प्राणियोंके भेद यदि स्थूलरूपसे प्राणोंकी संख्याकी अपेक्षासे किये जावें तो नीचे लिखे प्रमाण हो सक्ते हैं।

(१) एकेन्द्रिय स्थावर जीव—जैसे पृथ्वीकायिक (living minerals) खानका पत्थर, ताम्र, सीसक, स्फटिक, वज्र, खेतकी नर्म मिट्टी आदि, जलकायिक (living water) जैसे कूपका जल, नदीका जल, ओस आदि, अग्निकायिक (living fire) जैसे दीपककी ज्योति, अंगारा आदि, वायुकायिक (living air) जैसे प्रातःकालकी समुद्रके निकटकी वायु। वनस्पतिकायिक (living vegetables) जैसे वृक्ष, मूल फूल, फल, पत्ते, घास, काई आदि।

इन सबके ४ चार प्राण होते हैं स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, श्वासोश्वास और वायु।

(२) द्वेन्द्रिय त्रस जीव–जैसे लट, केचुआ, कौड़ी, संख, कृमि आदि क्षुद्र जंतु इन चलने फिरनेवाले व भयसे भाग जानेवाले (त्रस) जंतुओंके छः (६) प्राण होते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इंन्द्रिय, काय बल, वचनबल, श्वासोछवास, और आयु।

(३) तेइंन्द्रिय जीव–जैसे–पिपीलिका (चोटी), बिच्छु, खटमल, घुन, जू आदि। इन त्रस जंतुओंके ७ प्राण होते हैं—

स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास, और आयु।

(४) चौइन्द्रिय जीव—जैसे भौंरा, कीटक, डांस, मच्छर, मक्खी, भिड़, पतंगा। इन त्रस जंतुओंके ८ प्राण होते हैं—

स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, कायबल, वचनबल, श्वासोछ्वावास, और आयु।

(५) पंच इन्द्रिय असैनी (मन विनाके) जीव जैसे कोई २ पानीके सर्प आदि इन त्रस जंतुओंके ९ प्राण होते हैं—

स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इंद्रिय चक्षु, इन्द्रिय, कर्ण इन्द्रिय, कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास और आयु।

(६) पंच इन्द्रिय सैनी (मनवाले) जीव—जैसे गाय, भैंस, बैल, घोड़ा, हाथी, ऊंट बकरा, मेढा, गधा, बन्दर, कुत्ता, बिल्ली, मछली, सर्प, चूहा, कबूतर, काग, मोर मुरगा, तीतर, आदि, पशु तथा सर्व ही मनुष्य तथा शास्त्रोंके आधारसे सर्व ही देव, और सर्व ही नारकी। इन सबके १० प्राण पाए जाते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय, चक्षु इंद्रिय कर्णइंद्रिय, कायबल, वचनबल, मनबल, श्वासोच्छ्वास, और आयु। इन सब प्रकारके जीवोंके प्राण जिनके समान भी हैं उनमें भी एक दूसरेसे निर्बलता, सबलताकी अपेक्षासे भेद है। इसके सिवाय जिनमें मन होता है उनमें बुद्धिपूर्वक विचार करने और कार्य करनेकी अद्भुत शक्ति होती है। कबूतरोंको ऐसा सिखाया जाता है जिससे वे युद्ध आदिकी खबरों मीलोंतक उड़कर पहुंचाते हैं।

कुत्ते पहरा देने व स्वामीकी रक्षा करनेका अपूर्व काम करते हैं। गाय, भैंस मनुष्य समाजको दूध, घी, दही आदि पदार्थ देनेके कारण व बैल खेतीमें उपयोगी होनेके कारण बहुत ही कामके हैं। घोड़ा, हाथी, ऊंट सवारीका अच्छा काम देते हैं। मनवाले पशुओंकी अपेक्षा मन सहित जो मनुष्य होते हैं उनमें विचारने और काम करनेकी आश्चर्यकारक शक्ति रहती है। मानव अपने बुद्धिबलसे बड़े २ पशुओंको बस कर सक्ता है। अनेक तरहके यंत्र कला कौशल आदि बना सक्ता है, यहां तक कि जो किसीसे नहीं होनेका काम है उसको सम्पादन कर सक्ता है। इस समय जो आश्चर्ययुक्त विज्ञानकी उन्नति विदेशोंमें हो रही है उसका कारण मनुष्योंकी मानसिक शक्तिसे प्रगट हुआ बुद्धिबल ही है। हवाई जहाजोंका चलना, बेतारका तार होना, बिजलीके बलसे कलोंका चलना, बिजलीकी रोशनी होना आदि हजारों बातें जिनके होजानेका स्वप्नमें भी ख्याल न था हो गई हैं और दिन पर दिन मनुष्योंका बुद्धिबल चमत्कारकी खोज करता चला जा रहा है। जैसे भारतमें पहले आत्माकी शक्तियोंके अभ्याससे अनेक चमत्कार होते थे वैसे अब जड़ पुद्गलके विज्ञानसे हो रहे हैं।

मनुष्योंमें न्यायकारी राजाओं, विद्वानों, परोपकारियों, धर्मप्रवर्तकों आदिके प्राण साधारण मनुष्योंसे अधिक मूल्यवान होते हैं। मतलब कहनेका यह है कि जिस जीवके प्राण अधिक उपयोगी हैं उसकी हिंसाका अधिक अपराध होता है। यही कारण है जिससे मनुष्यकी जो कोई हत्या करता है वह

फांसी व देशनिकालेका दंड भोगता है। इन सब प्राणियोंमें सबसे बड़ा श्रेष्ठ प्राणी अवश्य मनुष्य है। इसी लिये मनुष्यको अपना जीवन बहुत विचारके साथ इस तरह बिताना चाहिये जिससे उसकी उचित आवश्यक्ताएं बहुत ही कम हिंसा करके पूरी हो सकें। क्योंकि जब तक कोई व्यवहारमें आचरण कर रहा है तब तक उससे बिल्कुल हिंसा होवे ही नहीं यह बात असंभव है।

यही बात ध्यानमें रख कर एक आत्मतत्वको जाननेवाले दयावान मनुष्यका फर्ज हो जाता है कि वह सबसे पहले अपनी मनुष्य समाजकी रक्षाका यत्न करे, उनकी हिंसाको रोके, जिन २ बाधक कारणोंसे उनकी उन्नतिमें विघ्न आता है उनको हटावे तथा जिन २ साधक कारणोंसे उनकी उन्नति होती है उनका उपाय करे, मनुष्योंका कर्तव्य है कि वे मनुष्योंको परस्पर शिक्षित स्वास्थ्ययुक्त, न्यायमार्गी और आत्मज्ञानी बनावें।

एक बालकमें जो मन, वचन कायकी शक्तियां हैं उनको जब तक शिक्षित न किया जायगा तब तक वे जगतमें भले प्रकार काम करने लायक नहीं होती। शिक्षाविहीन कोटानुकोट मनुष्य पशु सम जीवन बिताकर जगत्से चल देते हैं। इसलिये मनुष्य समाजमें कोई बालक व बालिका शिक्षाविहीन न रहे इसका पूरा उद्योग होना चाहिये। पुस्तकोंके पढ़नेकी कला सबको जाननी चाहिये क्योंकि पुस्तकोंके पढ़नेसे बहुतसे विषयोंका ज्ञान अपने आप हो सकता है। परन्तु इतने ही पर शिक्षाकी समाप्ति नहीं है। अपनी आजीविका स्वतंत्रताके साथ हो सके इसलिये असि, कृषि, वाणिज्य, मसि, शिल्प आदिकी शिक्षा भी दी जानी

चाहिये। यह शिक्षा केवल मौखिक न होकर अभ्यास रूप कराई जानी चाहिये। जिससे कोई बालक बालिका इस योग्य न रहे कि वह अपने २ कर्त्तव्योंके पालनमें भले प्रकार अपने मन-वचन कायको न लगा सके। मनुष्य जातिकी अज्ञानसे बहुत बड़ी हिंसा हो रही है इसलिये इसको मेट करके उनमें शिक्षा द्वारा भांति २ के ज्ञानका फैलाव करना बहुत बड़ी दयाका काम है और हिंसाको मेट कर अहिंसाका प्रचार करना है।

मानव समाज रोगादिकी वृद्धि रहनेसे शिक्षा सहित होने पर भी रोग ग्रसित हो जानेसे अपनी शिक्षाका कुछ फल नहीं प्राप्त कर सकता है इसलिये स्वास्थ्यके बाधक जो जो कारण हैं उनको मेटना बहुत जरूरी है। हवा, पानी व स्थानकी स्वच्छता, भोजनकी शुद्धता, व्यायाम (कसरत) करना, वीर्य रक्षा करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन तथा समय पर निद्रा लेना, उठना आदि नियमित कार्य करना इत्यादि साधन हैं जिनसे मानव समाज स्वास्थ्य युक्त रह सकता है। जो परोपकारी दयावान हैं उनको चाहिये कि अपनेसे जितना बने इन साधनोंकी प्राप्ति मनुष्य समाजको हो इसका यत्न करें। जो कोई घरका स्वामी हो उसको प्रेरणा करें कि वह घरको स्वच्छ रक्खे, स्वच्छ पानी कुटुम्बवालोंको पिलावे तथा भोजन शुद्ध ताजा करे करावे, सबको व्यायाममें लगावे और वीर्यरक्षामें उपयुक्त करे। और इसीलिये अनेक सुगम पुस्तकें जिनमें इन साधनोंको वर्तनेका उपदेश हो बननी चाहिये और वे हरएक पुरुष, स्त्री, कुमार, कुमारिका जिस किसीको पुस्तक समझनेकी शक्ति हो उसको देना चाहिये।

तथा ऐसी पुस्तकोंकी शिक्षा बालक व बालिकाकी शालाओंमें होनी चाहिये।

जो नगरका शासक या म्यूनिसिपलिटी हो उसको इस बातकी खास प्रेरणा करना चाहिये कि वह नगर व गांवकी हर तरह स्वच्छता रक्खे, हवा बिगड़नेका कारण न बनावे, स्वच्छ पानीका उपाय करे तथा अशुद्ध व अनिष्ट भोजन अपने गांवमें न आने दे, जैसे शराबकी दूकान न होने दे, व्यायामकी उत्तेजनाके लिये दंगल आदि करा कर पारितोषिक देवें, तथा व्यभिचारिणी स्त्री पुरुषोंको दंडित करें व वेश्या आदिकोंको वस्तीसे अलग रक्खें तथा स्वयं लोगोंके साथ समय और नियमसे वर्तें। प्रजाके स्वास्थ्यकी रक्षाका आधार शासकके ऊपर है। वह यदि भले प्रकार प्रबन्ध करे तो प्रजाके शरीर बिगड़नेके सब साधन दूर हो सक्ते हैं।

स्वास्थ्य रक्षाके उपायोंमें व्यायाम और ब्रह्मचर्य बहुत ही आवश्यक हैं। शरीरमें योग्यताके साथ रुधिर व वायुका संचार होना व अशुद्ध वायु तथा अशुद्ध परमाणुओंका पसीने आदिके द्वारा निकल जाना व्यायामके ही ऊपर निर्भर है। जो केवल मानसिक काम करते हैं उनके लिये शारीरिक परिश्रम बहुत अच्छा होना चाहिये। जो शरीरमें पसेव आने लायक शारीरिक परिश्रम करते हैं उनका वही व्यायाम है। तथापि अपनी स्थितिके अनुसार दंड करना, मुगदर हिलाना, बैठकें करना, कुस्ती लड़ना, दौड़ना, दूरतक खुली हवामें चलना, गेंद व फुटवाल खेलना आदि अनेक प्रकारके कसरतें हरएकको करना चाहिये।

वीर्यरक्षा व ब्रह्मचर्य भी बहुत आवश्यक है, क्योंकि शरीरमें भोजनका सत जो करीब १ मासमें तयार होता है वीर्य्य है। यह वास्तवमें सम्पूर्ण शरीरको बल प्रदान करनेवाला होता है। इसकी रक्षासे शारीरिक बलकी रक्षा है। यदि इसका उपयोग किया भी जाय तो संतान प्राप्तिके लिये, इस वीर्य या बीजको अपनी ही स्त्री रूपी भूमिमें समयपर डालना चाहिये जिससे वह वृथा न जावे और इससे एक संतानका फल बन जावे। करोड़ों रोग वीर्यके दुरुपयोगसे मानव समाजमें हो जाते हैं। इस दुरुपयोगसे बचनेके लिये हमेशा सत्संगति रखनी चाहिये। व्यभिचारिणी वेश्या आदि स्त्री व पुरुष व नपुंसक आदिकोंकी संगति कभी न करनी चाहिये, न ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहिये जो कामोत्तेजक हों, मनको इश्कबाजीमें ले जाती हों, इश्कबाज़ीके नाटक खेल देखना भी ऐसी प्रेरणामें सहायक हो जाते हैं। जिस मानव समाजने वीर्य्य बिगाड़ा व पूर्ण यौवनको प्राप्त हुए बिना व वीर्य्यको पक्क हुए बिना उसका उपयोग करना शुरू किया उस समाजमें दुर्बल सन्तानें जन्मेंगी। बस उस समाजके परम्परा नष्ट भ्रष्ट होनेका सामान बना गया ही समझना चाहिये। बालविवाह व अतरुण अवस्थामें वीर्य्यका उपयोग समाजको निर्बल, रोगी, दीन, दरिद्री व दुःखी बनानेमें प्रबल साधक हैं।

मनुष्योंका यह भी फर्ज़ है कि एक दूसरेको न्यायमार्गी बनावें—प्रथम तो न्यायमार्ग पर चलनेकी शिक्षा शालाओंमें भली प्रकार होनी चाहिये, दूसरे माता पिता, व अध्यापक अध्यापिका-

ओंको सत्य आदि बोलकर व नीतिसे चलकर अपने उदाहरणोंसे बालकोंको न्यायमार्गकी प्रेरणा करना चाहिये। तीसरे जो अन्यायपर चले उसको यथोचित दंड देना व दिलाना चाहिये। दृढ़ताके साथ वर्ताव किये जानेसे ही न्यायमार्ग चलता है। जहां शिथिलता दी गई कि यह बढ़ता चला जाता है। पहले कालमें पंचायतें बहुत मजबूत थीं उनके द्वारा अनीति वर्तनवालेको दंड मिल जाता था जिससे नीतिका अच्छा प्रचार रहता था। मनुष्य समाजकी नीति ठीक न रहनेसे ही मनुष्य समाजको महा दुःख होता है। हजारों लाखों मुकद्दमें अदालतोंमें जाते हैं। जिनके फैसल होने तकमें बहुतसा द्रव्य लगाना पड़ता व अंतमें अनीतिका फल भोगना पड़ता है। यदि नीतिसे चलना हो तो बहुतसे कष्ट दूर हो जावें।

न्यायमार्ग वही है जिससे अपने भाव न बिगड़े व दूसरोंके भावोंको कष्ट न पहुंचाया जावे। अन्याय मार्ग वही जिससे अपने भाव बिगड़ें व दूसरोंको कष्ट हो। इसी लिये न्यायमार्ग दया या अहिंसामें और अन्यायमार्ग हिंसामें गर्भित है। जो हिंसासे बचना चाहता है वह अवश्य नीति पर चलेगा नहीं तो वह हिंसा बचा नहीं सकेगा।

असत्य बोलना, चोरी करना, पर स्त्री सेवना, जूआ खेल-

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥ (पुरुषा० अमृत०)

भावार्थ—आत्माके परिणामोंकी हिंसा होनेका कारण जहां हो वहां हिंसा ही है: झूठ वचन आदि केवल शिष्यको समझानेके लिये उदाहरण रूपसे कहे गए हैं।

ना आदि ही वे अनीतियां हैं जिनसे बचना चाहिये। इन सबमें हिंसा होती है। नीति मार्ग यही है जो सत्य बोलकर व्यापारादि व्यवहार किया जाय, प्रतिज्ञाके अनुसार वर्ता जाय, दूसरेका धन किसी प्रकारके कपट, झूठी लिखा पढ़ी आदिसे न ग्रहण किया जाय, किसीका हक न मारा जाय, जिसकी जो वस्तु है वह उसकी आज्ञा विना न ली जाय, परकी स्त्रीसे सम्बन्ध न किया जाय। नीति मार्गका प्रचार स्वयं नीति पूर्वक वर्तन करने व नीतिकी शिक्षा देनेसे होता है। नीतिमार्गकी जड़ व्यवहार धर्म है। जिसको धर्म पुण्य, पाप, इहलोक, परलोक, आदिका विश्वास है वह नीतिमार्ग पर विना भयके व हर्षके साथ चलेगा। नीतिकी शिक्षाके लिये धर्मकी शिक्षा अति आवश्यक है। इसलिये बालक बालिकाओंको शुरूसे ही यह शिक्षा दी जानी चाहिये। जिससे उनकी आत्मापर धर्मकी श्रद्धा बैठ जावे। पर वह धर्म यही आत्मधर्म है जिसका वर्णन इस पुस्तकमें किया गया है। आत्माका श्रद्धावान ही अन्य प्राणियोंका अहित न हो इस रीतिसे व्यवहार करनेकी इच्छा करता हुआ नीतिमार्गमें चलता है।

मानव समाजको न्यायमार्गी बनानेके सिवाय उसको आत्मज्ञानी भी बनाना चाहिये; क्योंकि आत्मज्ञान विना वह सुख और शांति जो आत्मामें ही हैं तथा जो आत्माका स्वभाव है मानवके अनुभवमें न आनेसे उसका जीवन आनन्दमय नहीं होता। किन्तु एक भाररूप जीवन हो जाता है। बाल्यावस्थाहीसे बालक बालिकाओंको अपनी पहचान

बतलानी चाहिये। यद्यपि छोटी वयमें वे थोड़ा समझेंगे परन्तु आत्माके विशेषण आदि जाननेसे वे आगे चलके ज्यों ज्यों विचार करेंगे आत्माके भेदको पा जायंगे।

इस तरह मानव समाजको उचित है कि मनुष्योंको जिस तरह हो सके शिक्षित, स्वास्थ्ययुक्त, न्यायमार्गी और आत्मज्ञानी बनानेका यत्न करें। पशुओंके साथ मनुष्योंको दयाभावके साथ वर्तना चाहिये। निरर्थक उनकी हिंसाको न करके उनकी रक्षा करते हुए उनसे अपना काम लेना चाहिये। गाय, भैंस, घोड़ा, बैल, ऊंट आदि पशु हमारे बहुत उपयोगी हैं। उनसे हमको काम लेना चाहिये पर उनको कष्ट न देना चाहिये।

गाय, भैंसोंसे हमको दूध मिलता है। हमें चाहिये कि उनकी भले प्रकार रक्षा करें, उनको योग्य सूखे स्थानपर बांधें। वह जगह ऐसी ढालू पकी हो कि मूत्र बहकर अलग चला जावे। तथा गोबरको उसके नीचेसे समय२ पर उठा लिया जावे। ऐसा न हो कि गोबर और मूत्र सड़े और उनसे जंतु उत्पन्न हों। गाय भैंसोंको साफ रक्खा जावे। कभी२ उनको नहलाना व पोंछना चाहिये। उनको स्वच्छ चारा आदि खानेको देना चाहिये। जब वे गर्भिणी होवें उनकी रक्षा करनी चाहिये। बच्चा होने पर उसको अच्छी तरह माताका दूध पीने देना चाहिये। जब बच्चा इस योग्य हो जावे कि वह तृणादि भी खा सकता हो तब उसको पौन या आधा पेट दूध और बाकी तृण देना चाहिये शेष दूध आप अपने काम लेना चाहिये, इसी तरह ज्यों २ बच्चेकी रुचि तृणादि पर अधिक हो त्यों २ दूध कम दिया जाय और

उसें अपने काममें लिया जाय। ध्यान यह रखना चाहिये कि अपने लोभमें आकर बच्चेको दूध कम न मिले। दूध दुहनेके पहले थनोंको व बर्तनको खूब धो लेना चाहिये। दूध दुह कर उसी समय छान कर या तो पी लेना या पिला देना चाहिये नहीं तो अग्नि पर रख कर औटा लेना चाहिये। दुहनेके पीछे पौन घंटेके भीतर अग्नि पर रख देना चाहिये नहीं तो दूध खराब होता है व उसमें जंतु पैदा हो जाते हैं। गाय भैंसको बराबर अपने २ घरों पर पाल कर गृहस्थियोंको शुद्ध घी, दूध, दही आदि काममें लेकर अपने व कुटुम्बके शरीरकी रक्षा करना चाहिये। यदि वे दूध कम दें व न देने लायक हो जांय तो भी उनको उसी तरह अपने २ घरोंमें पालना चाहिये जैसे वृद्ध माता पिताकी रक्षा काम न दे सकने पर भी की जाती है। कभी भी इन तृण खाकर दूध देनेवाले उपयोगी पशुओंको कसाइयोंके हाथ लोभमें आकर न बेंचना चाहिये। इन पशुओंका हिंसक लोगोंके हाथमें जानेका कारण इस तरह हो जाता है कि गृहस्थ लोग बाजारका दूध घी खाते हैं जिससे ग्वाले गरीब आदमी इन पशुओंको पालते हैं जो लोभमें आकर बेच डालते हैं। यदि गृहस्थी अपने घरमें इनकी पालना कर इनसे अपना काम भी निकालें तो अपनेको शुद्ध शरीर बलवर्द्धक वस्तु भी मिले और कभी भी इन पशुओंका कसाइयोंके हाथमें जाना न हो। बहुतसे लोग गायके बछड़ोंको बंधिया कर डालते हैं अर्थात् उनकी स्पर्शन इन्द्रियके मुख्य चिह्नको छेद डालते हैं। यह बड़ी भारी निर्दयता है। हमने जहां तक मालूम किया है इन पशुओंके चिह्न न छेदनेसे कोई प्रकारकी

कभी उनसे काम लेनेमें नहीं होती है। हमको यह हक़ भी नहीं है कि हम किसीकी इंद्रियोंको नाश करके उससे अपना मतलब साधें। मानव समाजका कर्त्तव्य है कि पशुओंके शरीरको कोई भी बाधा न पहुंचा कर उससे जितना काम लिया जा सकता है उतना काम लेवें। यही हाल घोड़ोंके साथ भी किया जाता है। उनके भी चिह्नको छेद डाला जाता है। यह भी उचित नहीं है। बहुतसे लोग अपने घरके घोड़ोंके चिह्नोंको नष्ट नहीं करते हुए उनसे भले प्रकार काम लेते हैं। हमें यह कभी उचित नहीं है कि हम घोड़ोंकी दुम काट डालें—इससे उनको मक्खी आदि जंतुओंसे बाधा पहुंचती है। दुमके द्वारा वे जंतुओंको हटा सक्ते हैं। हमको यह भी पूर्ण खयाल रखना चाहिये कि हम पशुओंसे उनकी शक्तिके अनुकूल काम लेवें। अधिक बोझा कभी न लादें। जहां कहीं सर्कारी नियम हो कि इतने आदमी किसी घोड़ा गाड़ी पर बैठें व इतना बोझा किसी बैल गाड़ी पर लादा जाय हमें लोभमें आकर न अधिक आदमी बैठाने चाहिये न अधिक बोझा लादना चाहिये। मूक पशुओंको बहुत कष्ट सह कर बोझा खींचते हुए जो कष्ट होता है उसको वे ही जानते हैं। हमें यह भी खयाल रखना चाहिये कि हम अपने आधीन इन पशुओंकी भूख प्यासको पूर्ण करनेका पूरा २ प्रबन्ध रक्खें। लोभमें आकर इन मूक पशुओंको कम भोजन न देवें।

इन कामवाले पशुओंको लाठी चाबुकसे निर्दयताके साथ कभी नहीं मारना चाहिये। ऐसी आदत डालना चाहिये जिससे पशु इशारेसे ही काम करें। उनको बारबार मारना न पड़े। इसी

तरह जगतके पशुओंसे उनको कष्ट न देते हुए जो कुछ काम लेना हो सो लो।

मनवाले सैनी पशु पक्षी मनुष्यसे थोड़े ही दर्जे कम हैं इसलिये उनकी भी कदर भले प्रकार करो। जो पशु जो काम दे सक्ता है उससे वह काम लो। पहरा देने व रक्षा करनेका काम कुत्ता अच्छी तरह कर सक्ता है। बन्दरोंको सिखाया जाय तो वह पंखा खींचने आदिके शारीरिक काम भले प्रकार कर सक्ते हैं।

जिनके मन होता है उनके दुःख तथा सुखका विचार बहुत रहता है इससे उनको कष्ट होनेपर वे बहुत दुःखका अनुभव करते हैं।

जिन छोटे२ जंतुओंके मन नहीं है दुःखतो उनको भी होता है पर वे देर तक उस दुःखका स्मरण रख कर क्लेशित नहीं होते। दयावानका कर्तव्य है कि वह चींटी, चींटे, मक्खी, पतंग आदि जंतुओं पर भी दया भाव रक्खे और उनकी हिंसा अपनेसे जहां तक बने न हो इसकी सम्हाल रक्खे।

मानवोंको अपने शरीरके निर्वाहके लिये ४ प्राणधारी एकेन्द्रिय जीवोंसे ही मतलब रखना चाहिये। क्योंकि सिद्धांत यह है कि जितनी कम हिंसासे हम अपना निर्वाह कर सकें उसी तरह हमको वर्तना चाहिये। तोभी मतलबसे ज्यादा जलको भी फेंकना या वर्तना न चाहिये, मतलबसे अधिक अग्नि भी जलानी न चाहिये, मतलबसे अधिक अन्न, शाक, फल आदि भी नहीं वर्तने चाहिये। वृक्षोंको वृथा सताना व कष्ट देना नहीं चाहिये। जो फलदार वृक्ष हैं बड़े मनोहर नारियल, केला, आम, अमरूद,

नारंगी, अनार, सेव, आदि नाना प्रकारके फल देते हैं, उनके पके फल लेनेपर उनकी रक्षा करनी चाहिये। निरर्थक वृक्ष आदि एकेन्द्रिय जीवोंको भी मत सताओ।

एक बात यह भी जाननेकी है कि वृक्ष आदि वनस्पतियोंमें मांस रुधिर व हड्डी नहीं होतीं जब कि दो इन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रि पशु और मनुष्योंके होती हैं। इस लिये वनस्पति आदिके फूल, फल, पत्ते आदि सूखने पर अपनी स्वाभाविक गंध व रसको ही देते हैं। यदि कोई जलादिसे सड़नेका प्रसंग न आवे तो वे जीव रहित होने पर वर्षों बने रहते हैं और बड़े सुहावने रह कर मानवोंका लाभ करते हैं। यह बात मांस रुधिरवाले जंतुओंकी नहीं होती, जीव रहित होने पर उनके शरीर सड़ने लगते हैं, उनमें सूक्ष्म जंतु उसी जातिके वे गिनती पैदा हो हो कर मरते हैं। इसीसे मांस कभी भी दुर्गंधसे खाली नहीं होता व अनेक जंतुओंको पैदा करके उनके मृतक कलेवरका स्थान होता जाता है। *

हमारे कहनेका मतलब यह है कि अहिंसाके सिद्धांतको ध्यानमें लेते हुए वर्त कर व्यवहारमें जगतके जीवोंका शक्तिके अनुसार परोपकार करके अपनी शक्तिको सबल मानना चाहिये। प्रेमका संचार प्राणी मात्र पर रख कर उनके हिताहितका खूब विचार करके जगतमें चलना चाहिये।

---

* आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानसु मांसपेशीषु।
सातत्तेनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम ॥ ६७ (पुरु. अमृतचंद).
भावार्थ—मांसकी डली चाहे कच्ची हो, पक्की हो व पक रही हो उसमें निरन्तर उसी जातिके सूक्ष्म जंतुओंकी उत्पत्ति होती है।

पांचवां अध्याय।

भोजन पानका विचार।

इसी बातकी बहुत जरूरत है कि मानवसमाज भोजनपान करनेके सम्बन्धमें पूरा २ विचार करे। जैसे किसी यंत्रमें उससे काम लेनेके लिये हम ऐसा ही व इतना ही मसाला किसी नियमित समय पर डालते हैं जिससे व जितनेसे वह यंत्र ठीक२ चल सके और कभी बिगड़े नहीं इसी तरह शरीर रूपी यंत्रमें वही व उतना ही मसाला डालना चाहिये जिससे वह ठीक २ काम कर सके, आलसी व रोगी न हो। यह बात खूब ध्यानमें रखनेकी है कि हमारा जीवन खाने पीनेके लिये नहीं है किंतु खा पीकर शरीरको पालन करके उससे खूब काम लेनेके लिये है।

इसलिये हमको चाहिये कि हम मांस, मदिरा, व अन्य सड़े, बुसे, बासी, खराब भोजनको कभी न खावें। भोजनकी परीक्षाके लिये हमारे पास दो दरवान हैं, नाक और जीभ। इन दोनोंसे परीक्षा करें। जिसको नाक व जबान मना करे उसे हमें कभी न लेना चाहिये इसीसे हमको ताजा भोजन शुद्ध अन्न, शाक, फल, दुग्ध और घी आदि का करना चाहिये। ताजे बने हुए भोजनमें स्वाद ठीक होता है। भारतमें दाल रोटीका सादा भोजन प्रसिद्ध है। वास्तवमें दाल, रोटी; भातका भोजन अवगुण था कोई भी न करके गुण करता है। परन्तु ये वस्तुएं जबसे बननेको तैयार हों तबसे ६ घंटेके भीतर की ही काम लेने लायक हैं। इससे अधिकमें स्वाद बहुत खराब हो जाता है। पूरी

तरकारी दिन भरतक ही ठीक रहती है। मिठाई पकवान जो पानी डालकर बनाया जाता है २४ घंटे तक, जिसमें पानी न हो किन्तु अन्न हो वह भारतकी वस्तुके हिसाबसे वर्षामें ३, गर्मीमें ३, तथा जाड़ेमें ७ दिनतक; जिसमें अन्न भी न हो वह क्रमसे ७, १५ और ३० दिनतक काममें आ सक्ता है। घीको मक्खन बननेके समयमें ही अग्निमें तपाकर निकालना चाहिये वही घी ठीक स्वादमें जबतक रहे काममें लेना चाहिये। शाक भाजी आदि बनानेमें मसाला जितना कम हो उतना ही वह अधिक लाभकारी है। गेहूं आदिका आटा बनानेमें चूकर निकाल डालना न चाहिये यह पचनमें सहायक है। भात पकानेमें उसका मांड़ अलग न करना चाहिये। उसमें चावलकी शक्ति—अंश बहुत होता है। दाल, तरकारी इतनी पकानी चाहिये जो उसका असली रूप बिगड़ न जावे कि वे पानीके समान हो जावें भोजनमें सूखे मेवा बादाम, अखरोट, मूंगफली आदि व अन्य पके फलोंका भी उपयोग करते रहना चाहिये। जिस दशामें जो वस्तु पैदा होती है उसी दशामें उसके चबाकर खानेसे बहुत लाभ होता है। नमक मसाला डालनेसे उसकी पूर्ण शक्ति काममें नहीं आती।

जर्मनीके डाक्टर लुई कोहनीने अपनी पुस्तकमें जिसका हम पहले वर्णन कर चुके हैं इस भोजन पान पर बहुत उपयोगी अध्याय लिखा है। उसे हरएकको पढ़ना चाहिये। वह लिखते हैं "जो भोजन असली दशामें स्वादिष्ट और चित्ताकर्षक हों वे जल्दी हज़म होते हैं। नमक व मसालेके साथ पकानेसे देरमें हज़म होते हैं। पतले भोजन देरमें हजम होते

हैं जैसे शरबत आदि । पके फल शीघ्र हजम होते हैं ।
भोजनके पीछे फल खानेसे सब भोजन शीघ्र पचता है कुत्ते
अधिक भोजन कर लेने पर घास खाकर भोजनको पाचक बना लेते
हैं । अन्न व तरकारीमें जो पानी डालो उसे निकालो नहीं । वह
शक्तिवर्द्धक है । तरकारियोंको कम पानीमें पकाना अच्छा है ।
एक साथ एक समयमें एक रोटी और एक तरकारी खाओ, साथमें
दूसरी तरकारी या दाल न हो, खाना भूख रखकर खाओ, बार
बार खानेसे परहेज करो, क्योंकि इससे हाजमा बिगड़ता है ।
जब तक पहला भोजन हजम न हो जावे दूसरी वस्तु दूसरी
दफे न खाओ । ” उक्त डाक्टरका यह लिखना बहुत ही योग्य
है कि जब तक हमको खूब भूख न लगे तब तक हमें भोजन
न करना चाहिये तथा कई प्रकारका भोजन एक साथ न
करके यदि एक ही प्रकारका एक साथ हो तो वह
अधिक लाभकारी है । बहुतसे लोग विना भूख भोजन
करके रोगोंको मोल लेते हैं। जितने रोग हैं वे पेटकी
दशा बिगड़नेसे पैदा होते हैं । यदि कोई मनुष्य दिनमें एक दफे
भी भोजन करे तो उसका वह भोजन उसके २४ घंटेके लिये
शरीररूपी यंत्रसे काम देनेके लिये बस है। हमारा इससे यह
कहनेका मतलब नहीं है कि कोई भी दूसरी दफे भोजन न करे
किन्तु यह है कि यदि एक दफे भोजन करनेका अभ्यास डाले
और देखे कि उसको शरीरमें आराम रहता है, स्वास्थ्य
ठीक रहता है तो उसे दूसरी दफे भोजन करनेकी आवश्यकता
नहीं है । जब तक खूब भूख न लगे पेटमें कुछ डालना विष

खानेके समान है। आज कल जगतके लोग बारबार खानेको सभ्यता मानते हैं जिसका फल यह होता है कि पेट उनके भोजनको पचा नहीं सकता इससे वह विना पचा हुआ ही पेटसे पतले दस्तके रूपमें निकल जाता है। भोजन पच गया है या नहीं इसकी पहिचान यह है कि जब दस्त थोड़ा व भूरे रंगका मुलायम और बंधा हुआ हो और उसपर लेसदार तह पाई जावे तथा झटसे अलग हो जावे–पाखानेके स्थान पर लगा न रहे। यदि जांच की जावेगी तो १०००में ९९९ मनुष्योंके दस्त ठीक २ नहीं होता, वे कच्चा विना पका भोजन पेटसे निकाल करके नष्ट करते हैं। अपना व जगका हित करनेका उपाय यह है कि भोजन कभी भी अधिक व विना पहला पचे हुए दूसरी वार न किया जाय। यदि मनुष्य इस बातकी जांच रखेंगे तो करोड़ों मन अन्न, घी आदि जो विना पचे दस्तमें निकल जाता है वह बचे और दूसरे मनुष्योंके काम आवे। तथा आप कभी रोगकी गोदमें न सोवे। यदि २४ घंटे में १ दफे भोजनकी आदत डाली जावे तो बहुत लाभ हो। **डाक्टर लुई कोहनी** ने इस विषयमें कहा है "एक भोजनके ठीक २ पच जानेके लिये पूरा वक्त देना चाहिये। संसारमें पशु पक्षियों तकमें यह नियम है कि एक भोजन करनेके पीछे दूसरा भोजन बहुत देर पीछे लेते हैं। बहुधा व्रत उपवास करनेसे शरीरका हाजमा ठीक हो जाता है। यह देखा गया है कि एक दफा पूरा भोजन खानेके बाद सर्प बहुधा कई सप्ताह तक भोजन नहीं करता। यह भी जांचा गया है कि हिरण और

खर्गोश सप्ताहों और महीनों तक बहुत ही कम भोजन पर रहते हैं।" वास्तवमें यह बात भी बहुत जरूरी है कि ८ वें दिन महीनेमें ४ उपवास किये जावें इससे शरीरकी सफाई होती है व जो कुछ अपक्व अंश होता है वह पच जाता है। २४ घंटे पेटमें कुछ न डालनेसे व प्यास अधिक हो तो केवल गर्म पानी पीनेसे शरीर शुद्ध हो जाता है। आठ दिनमें जो कोई रोगका कारण पैदा भी हुआ हो वह भस्म हो जाता है। बीमारीसे बचकर जीवनमें सुख सहित रह बहुत काम करना हो तो भोजन भूख लगने पर ही खाओ, खूब पचाओ व कभी२ उपवास करो। हमारे लिये १२ घंटेका दिन बहुत है जिसमें हम भोजन बनावें और खावें। सूर्यकी किरणोंके प्रकाशसे भोजनमें पाचनशक्ति होती है इससे जबतक सूर्यका प्रकाश है तब ही तक भोजन बनाना व खाना चाहिये। हमें आवश्यक्ता नहीं है कि हम रात्रिको भोजन करें। रात्रि आराम करने व भोजन पेटमें पकानेके लिये हैं। कबूतरके समान दिनके खानेवाले पक्षी रातको कुछ नहीं खाते। रात्रिको भोजन बनाने व खानेमें जंतुओंका घात भी बहुत हो सकता है क्योंकि यदि अंधेरा रक्खें तो जंतुकी रक्षा न हो यदि प्रकाश रक्खें तो उसकी ज्योतिके आसक्त बहुतसे छोटे बड़े जंतु आते हैं और भोजनमें गिर कर मर जाते हैं। इससे भोजन भी अशुद्ध हो जाता है।

पानी भी हमको ताजा असली पीना चाहिये। उक्त डाक्टर लुईका कहना है "पशु सदा बहते हुए पानीको ही ढूंढते हैं और नदीकी धाराओंसे पानी पीना पहाड़ोंसे निकलते हुए झरनोंकी

अपेक्षा अदिक पसंद करते हैं। जिस पानी पर सूर्यकी किरणें पड़ती हैं और जो पत्थरके टुकड़ोंपर बहता आया है वह पहाड़के झरनोंके ताजे पानीसे अच्छा होता है। बीमारीसे बचनेके लिये जरूरी है कि वही पानी पिया जाय जैसा नेचरमें मिलता है। मात्र पानीसे ही प्यास बुझानी चाहिये तथा जहां तक हो कम पीना चाहिये। जो पशु रसदार फलादि खाते हैं वे पानी कम पीते हैं। मनुष्यादि रसदार फलोंको खाए तो प्यास कम लगे"। इस ऊपरके कथनसे साफ २ प्रगट है कि हमको बनावटी पानी जैसे किं बर्फ, सोडावाटर, लेमेनेड आदिका कभी न पीना चाहिये। कूप, नदी आदिका स्वच्छ पानी भले प्रकार छान कर पीना चाहिये। पानीमें बहुतसे जंतु छोटे बड़े अनगिनती पैदा हो जाते हैं। इस लिये जरूरत है कि वे हमारे पेटमें न जावें तथा उनकी हत्या भी न हो। ये जंतु मोटी आंखसे कभी नहीं दिखते हैं। परन्तु दुरबीनसे भले प्रकार दिखते हैं। इससे उचित है कि दोहरे गाढ़ेके कपड़ेसे पानीको छान लें और उस छन्ने पर जो कुछ हो उसको उसी पानीमें छने पानीसे धोकर पहुंचा देवें। बहुतसे रोग जो अनछना पानी पीकर पेटमें कीड़ोंके जानेसे होते हैं उनसे हमारी रक्षा हो जाती है। यह भी याद रखना चाहिये कि यह पानी पौन घंटे तक काममें आ सक्ता है। फिर यदि लेना हो तो फिर छानना चाहिये और छन्नेको किसी पात्रमें धोकर उसके धोवनको रखना चाहिये। जब फिर पानी लेने जाया जाय तब उस धोवनको जहांका वह पानी था वहीं भेज देना चाहिये। यदि बार बार छाननेसे बचना हो तो उस

पानीको यदि, उबाल लिया जावे तो वह २४ घंटे, यदि गर्म किया जाय तो १२ घंटे यदि कुटी हुई लौंग, इलायची, चंदन, राख, निमक आदि डाल कर उसका रंग व स्वाद बदला जाय तो ६ घंटे काममें आ सक्ता है फिर वह छाननेसे भी काममें नहीं आता। बहुतसे रोग विगड़े हुए पानीसे पैदा हो जाते हैं इससे पानीको बहुत विचारके साथ पीना चाहिये। जहां कहीं के पानीमें रोगिष्ट होनेका सन्देह हो वहां के पानीको उबाल कर ही ठंडा करके पीना चाहिये। दूध तर्त दुहकर या तो छानकर पी लेना चाहिये या उसी समय उबाल डालना चाहिये। ऐसा दूध फिर २४ घंटे चल सक्ता है। यह बात भी ध्यानमें रखना चाहिये। कि भोजन खुब चबा चबाकर संतोष और शांतिके साथ मौन रखकर किया जाय जिससे एक चितसे किये जाने पर व खूब पिस जानेसे व राल मिल जाने पर भले प्रकार हजम हो सके। स्वच्छ हवा, निर्मल आरोगी पानी और शुद्ध ताजा भूख लगनेपर भोजन हमारे उस शरीरकी रक्षा करनेवाले हैं जिसमें रह कर हमें आत्मीक सुख और शांतिका लाम करना है।

गृहस्थीमें सुख शांतिका भोग।

जो सुख-शांति अपने आत्माके पास है—अपने आत्माका स्वभाव है उसका लाभ हरएक आत्माके सत्स्वरूपके जाननेवालेको प्राप्त हो सक्ता है। गृहस्थीमें रहकर हरएक प्रकारका कार्य करनेवाला चाहे वह क्षत्री, वैश्य या शूद्र कर्म करे इस सुख—शांतिका उपभोग स्वयं कर सक्ता है। वाहरी चेतन व अचेतन पदार्थोंका सम्बन्ध व उनका वर्तन एक ज्ञानी गृहस्थको बाधक नहीं

होता है। वह स्त्री-पुत्रादिके साथ ऐसे मोहमें अन्धा नहीं हो जाता कि उनके मोहमें पड़कर अपने आत्माको भूल जावे व उनही को अपना सर्वस्व जाने। वह जानता है कि उनका सम्बन्ध एक वृक्षपर इधर उधरसे आए हुए पक्षियोंके संयोगके समान है जो सवेरा होते ही सब बिछुड़कर अपने २ मार्ग जानेवाले हैं। इसलिये वह गृहस्थ स्त्री पुत्रादिके बीचमें इसी तरह रहता है जैसे जलके बीचमें कमल रहता है। कमल जलमें रहकर भी जलसे लिप्त नहीं होता ऐसे ज्ञानी कुटुम्बमें लिप्त नहीं होता। वह स्त्री पुत्रादिके आत्माओंको भी अपने आत्माके समान जानता है और इसलिये व्यवहारमें उनके मन वचन कायको अपनेसे कोई कष्ट न पहुंचे ऐसा व्यवहार करता है तथा उनका जीवन सुखशांतिके साथ अपने जीवनकी शक्तियोंको उपयोगमें लेता हुआ बीते ऐसा प्रबन्ध करता है। अपनी स्त्रीको आत्माका सत्स्वरूप समझाकर सुख शांतिके लिये आत्मारूपी नदीमें स्नान करनेको समझाता है तथा मन वचन कायसे संतोषपूर्वक परिश्रम करते हुए व अहिंसाका ध्यान रखते हुए गार्हस्थ्य जीवन बितानेकी शिक्षा देता है। स्त्रीको अपने गार्हस्थ्य जीवनमें अर्द्धाङ्गिनी समझकर उससे अपने काममें सहायता लेता तथा उसके काममें सहायता देता है। परस्पर सच्चे प्रेमरसके प्याले एक दूसरेको पिलाते हैं। पति पत्नीका हार्दिक प्रेम ही योग्य सन्तान उत्पत्तिका मूल है। मनमें आकुलताओंका जितना वास कम होगा उतना सुख शांतिके अनुभवका अवसर आवेगा। इसलिये गृहस्थी अपनी स्त्रीको भले प्रकार समझाता है कि जो कुछ मैं द्रव्य कमाता हूं उसीमें ही भले

प्रकार कुटुम्बका पालन करना चाहिये। किसीसे कर्ज लेकर न जीवन निर्वाह करना चाहिये, न विवाह शादी आदिके अवसरोंमें कर्ज लेना चाहिये। क्योंकि कर्जके भारके समान गृहस्थीको दूसरा आकुलताका स्थान नहीं है। निराकुल रहनेके लिये गृहस्थीका कर्तव्य ही है कि झूठी मान बड़ाई व सांसारिक मजे शौकको छोड़कर जो कुछ न्यायसे कमावे उसीमें ही सब कुछ काम करे। जिसमें कभी भी चिंताकी गोदमें पड कर व्याकुल न होना पड़े।

गृहस्थी अपनी पुत्र पुत्रियोंको भी आत्मधर्म सिखाता है, आत्माकी पहचान बताता है तथा उनकी शक्तियां कुंठित न रहें इसलिये उनको यथायोग्य शिक्षा देता है—विद्या पढ़ाता है—व्यायाम करना सिखाता है—ब्रह्मचर्यके गुण बता कर वीर्यरक्षा करनेका लाभ एकान्तमें समझा देता है। पुत्र वीर, साहसी, पुरुषार्थी विद्वान, धर्मात्मा बने, पुत्रियां आलस्य रहित, विदुषी, शिक्षिता, सुआचारवान व विचारशील बनें इस बातका पूरा प्रबन्ध करता है। ज्ञानी गृहस्थ यह परवाह नहीं करता है कि मैं इनका भला करता हूं तो ये भी बदलेमें मेरा कुछ आगे भला करेंगे। वह यह अपना धर्म समझता है कि जब मैंने सन्तानको जन्म दिया है तब मुझे उन्हें अपनी शक्ति अनुसार योग्य बनानेका उपाय करना ही चाहिये। इसीसे वह सन्तानका सच्चा हित करता है। उनको कभी अयोग्य बाल अवस्थामें विवाहता नहीं—उनका कभी अमिल मिलाप कराता नहीं। कन्याको योग्य युवा वरके सुपुर्द ही करता है। गृहस्थ पुरुषका यही कर्तव्य है कि वह विना किसी स्वार्थबुद्धिके अपने कुटुम्बका हित करे।

ज्ञानी गृहस्थका यह भी फर्ज है कि कभी भी कुटुम्बके मोहमें पड़कर अपने धर्मको न छोड़ बैठे। कितना भी भारी कुटुम्ब हो, कैसा भी भारी व्यापार हो, कैसा भी बड़ा राज्य प्रबन्ध हो उन सबको करता हुआ ज्ञानी अपने आत्माके सत्स्वरूपको जानता रहता है यह सब क्रियाएं मेरे आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं ऐसा अनुभव करता रहता है। तथा व्यवहारमें अहिंसा व दया धर्मको कभी छोड़ता नहीं। इन दोनों धर्मोंकी प्राप्तिका यथायोग्य निमित्त मिलाता रहता है। अपने सत्य धर्मको प्राण जाते भी नहीं त्यागता है।

छठा अध्याय ।

—※※※—

स्वपर हितके लिये बलिदान ।

बलिदान एक ऐसा तप है कि जिस तपके द्वारा अपना और दूसरोंका हित दिल खोलकर करनेका अवसर मिलता है। बड़े २ महान पुरुषोंने प्राचीन कालमें व अब इस बलिदानके भावके द्वारा ही अपना और जगतका सच्चा हित किया है। जो कोई व्यक्ति अपनी मानसिक, वाचिक, शारीरिक, आर्थिक तथा विद्या सम्बन्धी आदि शक्तियोंके द्वारा अपना सांसारिक और क्षणिक स्वार्थ न कर अपना आत्महित तथा जगतका कल्याण करता है वह एक महान पुरुष है—महात्मा है। ऐसे महात्माओंके ही द्वारा जगतका आश्चर्यजनक हित हुआ है, होता है व हो सक्ता है। जो लोग केवल गृहस्थीमें ही रहकर पर उपकार करना चाहते हैं वे गार्हस्थ्य सम्बन्धी अनेक झगड़ेके कारण बहुत ही कम समय इस इच्छाकी पूर्तिमें लगा सकते हैं। मनुष्यके पास जीवन थोड़ा है। प्रतिदिनका जो २४ घंटोंका समय है उससे अधिक आ नहीं सक्ता। इन घंटोंको चाहे जिस काममें लगावे। जिस किसीको व्यापारादि व स्त्री पुत्रादिकी सम्हाल व नोन तेरल लकड़ाकी चिंता नहीं है जो अपना समय इन बातोंसे बचाता है वह अवश्य यदि आलसी नहीं है, अपना समय अन्य उपयोगी कार्योंमें बिताएगा।

गृह सम्बन्धी जंजालसे निवृत्ति पानेकी आवश्यक्ता इसी

लिये है कि जिसमें आत्मध्यान करनेका विशेष पुरुषार्थ हो तथा परोपकारके लिये अधिक समय निकाला जा सके। परंतु यह गृह सम्बन्धी कार्यका त्याग उसी समय करना चाहिये जब गृह पुरुष- की ऐसी शक्ति हो जावे कि वह इन्द्रियोंका विजयी हो व मनको अपने आधीन रख सक्ता हो व जिसके चित्तसे धनादि लाभ व यश प्राप्ति आदिकी वासना निकल गई हो तथा जिसका मन इस बातके लिये अतिशय रुचिवान हो कि आत्मध्यान किया तथा परोपकार किया जाय। जब तक गार्हस्थ्य धर्ममें प्रेम रहे तब तक गृहत्याग करनेका कभी विचार न करना चाहिये तब तो घर हीमें रहकर आत्मविचार व परोपकारमें लिये दिन पर दिन अधिक २ समय निकालना चाहिये अधिक समय निकालनेका उपाय यह हो सक्ता है कि अपने युवान पुत्रको धीरे २ आजीविका सम्बन्धी भार दिया जाय और आप अधिक समय आत्मविचार और परोपकारमें बितावे। सो वह यहां तक बढ़ाया जा सक्ता है कि आप केवल भोजनके समय भोजन कर ले शेष अपना समय अपने उद्देश्यकी सफलतामें लगावे। स्त्री पुत्रादिसे प्रेमभाव दिखलानेमें थोड़ा समय लगावे व कुछ समय केवल इस बातकी जांचमें कि हमारा पुत्र यथार्थ गृहकार्य आदिको सम्पादन कर रहा है या नहीं ऐसे मानवको बहुत सा समय स्व परहितके लिये मिल जाता है तोभी इस स्थितिमें जाति व कुटुम्ब सम्बन्धी अनेक आकुलताएं व विघ्न बीचमें आना संभव है। इस कारण जो सांसारिक झगड़ोंसे निवृत्त होनेकी गाढ़ रुचि अपने मनमें पावें उनको घर त्याग कर

ही शेष जीवन बिताना चाहिये। जिस घर त्यागके नीचे लिखे प्रकार हो सक्ते हैं:—

(१) यदि स्त्री सजीवित हो तथा अपने कार्यमें सहायी हो या आज्ञामें चलनेवाली बाधक न हो तो अपना सब परिग्रह पुत्रको सौंप आप और स्त्री दोनों घर छोड़ें। अपनी आजीविका के निमित्त कुछ सम्पत्ति अलग कर लेवें, जिसको किसी ऐसी रीतिसे रहने देवें कि उसकी आय सुगमतासे आवे. और यह दोनों ही धर्म साधन करें। परस्पर सहायक रहें तथा दोनों ही अपनी२ शक्तिके अनुसार नाना प्रकारके परोपकार करें जैसे पाठशाला चलाना, शिक्षा देना, उपदेश करना, दुःखियोंकी सेवा करना, समाजोन्नतिके उपाय करना, देशोन्नतिके यत्न करना, जो२ त्रुटियां व कष्ट जनसमाजको हों उनको निवारण करना व कराना, राजा व शासकके कार्यमें सहायता देना, पुस्तकें लिखना, ऐतिहासिक खोज करना, विधवाओंको सुशिक्षित करना, अनाथोंकी रक्षा करना आत्माके सत्स्वरूपके ज्ञानका प्रचार करना आदि।

(२) यदि स्त्री आज्ञामें चलनेवाली न हो अथवा अपना प्रेम एकाकी रहनेका हो तो अपने पुत्रको अपनी स्त्रीकी रक्षा भी सौंपना और आप अपने लिये उसी तरह सम्पत्ति अलग करके उसकी जो आय आवे उसमें अपना शरीर पालते हुए आत्ममनन तथा परहितमें जीवन बिताना।

(३) यदि स्त्रीका देहान्त हो गया हो और अपनेमें इन्द्रियोंको अपने दासत्वमें रखनेका पूर्ण भाव जग गया हो ऐसा कि

जगतकी स्त्रियें माता, बहन, व कन्याके समान दीखने लगें तो अपने लिये सम्पत्ति अलग करके उसकी आयमें रहकर स्वपरहित करे।

(४) ऊपरकी कोई स्थिति होते हुए यदि धन अपने पास इतना न होकि जिसकी आयसे शेष जीवन कट सके और अपनी हार्दिक भावना उच्च उद्देश्य साधनकी हो तो भी घरको छोड़ सक्ता है और केवल उदर निर्वाहार्थ व स्त्री हो तो उसके भी निर्वाहार्थ थोड़ासा धन लेकर किसी संस्था या सभाकी सेवा करना स्वीकार कर सक्ता है। उस समय वह इस बातका पक्का ख्याल रखता है कि मैं जितना कुछ लेता हूं उससे कई गुणा अधिक मूल्यका काम अवश्य बजा दूं। इस तरह सेवा करनेमें कोई दोष न समझना चाहिये। बहुतसे लोग यह विचारते हैं कि कुछ लेकर सेवा करना दोष है ऐसे विचारसे बहुतसे उपकारके काम धन होते हुए भी कार्यकर्त्ताओंके विना पड़े रह जाते हैं। इससे यह अभिमानका विचार ठीक नहीं। जिसने अपने मनको इतना वश कर लिया कि वह केवल पेट पालनेके लिये व सभ्यतासे जैसी स्थिति हो उसमें रहनेके लिये कुछ मात्र लेता है शेष अपना सर्व जीवन संस्थाकी सेवामें विताता है उसने अपनी थोड़ी बलि नहीं की किंतु बहुत कुछ अपने स्वार्थका बलिदान किया है।

(५) जिस किसीके पास धन होते हुए भी धनको रखना नहीं चाहता है व धन न होते हुए भी धनकी व अपने उदर निर्वाहकी परवाह नहीं रखता और चित्त आत्मप्रेममें इतना रंग गया है उसको एकाकी रहना व निर्द्वन्द्व रहना ही पसंद आता है उसके लिये यह मार्ग है कि वह गृह त्यागे—कुछ थोड़ेसे वस्त्र

या पात्र रख ले जिनको वह स्वयं हरजगह लिये फिर भी सके और वस्त्रादि कुछ न लेकर देशाटन करे। वनों—उपवनोंमें बैठकर आत्ममनन करे। जब भूख सतावे नगरमें आवे और भिक्षा ग्रहण कर ले। पानी पात्रमें लेकर फिर वनको चला जावे। ऐसे आत्मध्यानीके लिये भिक्षाकी कमी नहीं रहती। जिस किसीके यहां जाय और वहां आहार पान शुद्ध है ऐसा निश्चय हो जाय तथा वह भक्ति सहित जीमनेकी प्रार्थना करे तो वहीं बैठकर जीम लेवे। नहीं तो थोड़ासा आहार अपने पात्रमें डलवा दूसरे घरमें जावे, वहां भी यदि खानपान शुद्ध हो तो जो वह दे उसे पात्रमें ले लेवे। इस तरह दो, तीन, चार, पांच घरोंसे जब पेटभर हो जावे तब आखरीके घरमें पानी ले वहीं भोजन कर ले और पात्र साफ़ कर पानी ले वनको चला जावे। एक तरहकी तो यह रीति है। दूसरी रीति भिक्षाकी यह भी हो सक्ती है कि विद्यार्थी ब्रह्मचारी छात्रके समान एक, दो, तीन, चार, पांच आदि घरोंसे बिना बनी हुई शुद्ध वस्तुएं भिक्षाद्वारा संग्रहकर वनमें जाए और वहां उनको स्वयं पकाकर खा पी लेवे। लज्जा कषायको जीतकर सरल मन करनेवाला ही ऐसा कर सक्ता है। वह गृहस्थियोंका बड़ा उपकारी है इसकी लज्जाके त्यागसे उनसे दान बनता है। ऐसा आत्मविचारी पुरुष जहां जावे वहां "धर्मलाभ हो" व "भिक्षां देहि" इस बातके कहने मात्रसे स्त्रीपुरुष उसकी सेवामें आ जाते हैं। ऐसा पुरुष कभी धनको हाथसे छूता नहीं। उदर मात्र भरकर आत्म चिन्तवन करके सुख शांति भोगता है। तथा समय समय पर लोगोंको आत्माके सत्स्वरूपका उपदेश करता है,

व उनको सन्मार्ग पर लगाता है। बहुत करके पैदल ही भ्रमण करता है यदि कभी ऐसा नहीं कर सक्ता है तो यदि किसीने सवारीका प्रबन्ध स्वतः कर दिया तो सवारी पर भी बैठकर इधर उधर जा सक्ता है। यह बात एक विवेकवानके लिये स्वयं विचारनेकी है कि मैं किस मर्यादामें रह सक्ता हूं उसी मर्यादामें रह कर वह अपना जीवन विताता है। भिक्षावृत्तिसे रहनेवाला बहुत ही विचारशील, अभिमानरहित आत्मध्यानी होना चाहिये ऐसा पुरूष एक ऊंचा महात्मा होता है जिसके दर्शन मात्रसे जनता आनंदको प्राप्त करती है। आत्मध्यान या योगाभ्यासमें ऐसी शक्ति है कि इसके कारणसे मनमें जो किसीके लिये अच्छा होना विचार करे, व वचनोंसे जो कहे वह प्रायः सिद्ध हो जाता है। आत्मध्यानी का मानसिक बल इतना बढ़ जाता है कि अपने मनके दृढ़ विचारसे बहुतोंके विचार पलट सकता है, वाचिक बल ऐसा बढ़ जाता कि जो कुछ उपदेश दे व कहे उस पर जनता भले प्रकार ध्यान देवे, कायिक बल स्वास्थ्य रूप रहता है, शरीरमें क्रान्ति हो जाती है। आत्मिक बलसे लाखों आदमी उसकी बातको माननेवाले हो जाते हैं। गृहत्यागीके ऊपर जो भेद कहे हैं उनमें जो ब्रह्मचारीके समान पात्र वस्त्र रखकर रहते व भिक्षावृति करते वे यदि बना हुआ शुद्धाहार कहीं न मिले तो स्वयं भोजनादि बना लेते. व वनमें फलादिको छिन्न भिन्न कर खा लेते हैं तथा दूसरे वे गृहत्यागी हैं जो थोड़ा, वस्त्र व पात्र रखते तथा स्वयं हाथसे भोजन नहीं बनाते जो बना हुआ

शुद्ध भिक्षासे मिल जाता है उसे ही लेते हैं ऐसे गृहत्यागी बहुत ही विरक्त होते हैं यह किसी सवारी पर भी नहीं चढ़ते पैदल ही घूमनेमें, वनादिकी स्वच्छ हवा लेनेमें ही संतोषी रहते हैं। यही विरक्त धीरे २ वस्त्रादिकी अपेक्षा भी छोड़ देते हैं और बालकके समान निर्भय हो वनादिमें विचरते हैं। भूखकी बाधा होने पर गांवमें आते हैं वहां पर शुद्ध भोजन दिये जाने पर खड़े २ हाथमें ही लेकर शीघ्र थोड़ा सा खा पी व कुछ पानी पात्रमें शौचार्थ ले वनको चले जाते हैं। ऐसे महात्माओंकी मूर्ति ही सुखशांतिमय होती है। ये महात्मा सुख-शांति मय आत्म-समुद्रमें मानो मग्न रहा करते हैं। सुखशांतिकी अधिक २ प्राप्तिमें सफल होते रहते हैं।

उपसंहार।

इस तरह यह सुखशांति जो अपने आत्मामें है, आत्माका ही स्वभाव है आत्माके सत्स्वरूप पर निश्चय लानेवालेको प्राप्त होना प्रारम्भ होती है और फिर दिन पर दिन इसका लाभ बढ़ता जाता है, जितना जितना मन निश्चित होता है उतनी उतनी आत्मसुखकी दशा व आत्मोन्नति निकट आती जाती है। जगतके प्राणियोंका कर्तव्य है कि इस सुखशांतिको भोग कर सच्चे सुखिया हों—जगतके प्रपंचोंमें आत्माके सत्स्वरूपके ज्ञान विना लीन रहनेसे कभी भी सुख मिलनेका नहीं है। इससे सुख व शांतिके चाहनेवाले व्यक्तिको उचित है कि आत्मधर्मको समझकर अपना हित करे और यथाशक्ति दूसरोंको भी समझाकर उनके हितका निमित्त होवे।

यह पुस्तक हमने अपने अनुभवसे लिखी है। विशेषज्ञ इसमें जो कोई त्रुटि रह गई हो उसको ध्यानमें न लेकर व गुण ग्रहण कर स्वपरहितमें प्रवर्त्त हों।

कारंजा (अकोला)
मिती कार्तिक कृष्ण ९ गुरुवार
ता. २४-१०-१८

प्रार्थी-
ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद

आत्मविचार करनेके लिये गाथा व श्लोकोंका संग्रह।

*श्री कुंदकुंदाचार्य्य देव।

णिद्दंडो णिद्दंदो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥१॥

भावार्थ—वह शुद्ध आत्मा मन, वचन, कायकी क्रियारूप तीन दंडोंसे रहित है, पर पदार्थसे रहित होनेसे द्वंद्वसे शून्य है, मोह राग द्वेषके अभाव होनेसे ममकार रहित है, अशरीर है, पर आलम्ब रहित है, वीतराग है, दोष रहित है, मूढ़तासे शून्य है तथा सर्व भय रहित है।

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोस णिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥२॥

भावार्थ—वह शुद्ध आत्मा परिग्रहकी गांठसे रहित निर्ग्रंथ है, वीतराग है, माया मिथ्या निदान आदि शल्योंसे रहित है। सर्व दोषोंसे मुक्त है। इच्छा रहित है। तथा क्रोधमान और मदसे शून्य है।

णाहं बालो वुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं।
कत्ता णाहि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥३॥
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं।

---

*यथासंभव जो पहले हुए हैं उनके श्लोक क्रमसे पहले हैं।

कत्ता णहि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥४॥
णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो हं।
कत्ता णहि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥५॥

भावार्थ—न मैं बालक हूं, न बुड्ढा हूं और न इन अवस्थाओंका कारण हूं, न इनका कर्त्ता हूं, न करानेवाला हूं और न मैं इनके करनेवालोंकी अनुमोदना करनेवाला हूं। न मैं रागरूप हूं, न मैं द्वेषरूप हूं न मोहरूप हूं और न इन भावोंका कारण हूं, न मैं इनका कर्त्ता हूं, न करानेवाला हूं और न मैं इनके करनेवालोंकी अनुमोदना करनेवाला हूं। न मैं क्रोधरूप हूं, न मानरूप हूं, न मायारूप हूं और न कभी लोभरूप होता हूं, न मैं इनका कर्त्ता हूं, न करानेवाला हूं और न करनेवालोंकी अनुमोदना करनेवाला हूं।

केवल णाण सहावो केवल दंसण सहाव सुह मइओ।
केवल सत्ति सहावो सोहं इदि चिंतए णाणी ॥६॥
णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ॥७॥

भावार्थ—जो कोई केवलज्ञान स्वभाव है, केवल दर्शन स्वभाव है, परम सुखमई है, तथा केवल शक्ति स्वभाव है वही मैं हूं ऐसा ज्ञानी विचार करे। जो अपने भावको कभी नहीं छोड़ता है तथा किसी भी परभावको कभी ग्रहण नहीं करता है परंतु सर्वको जानता है और देखता है सो ही मैं हूं ऐसा ज्ञानी चिन्तवन करे।

एको मे सासदो अप्पा णाणदंसण लक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा ॥८॥

भावार्थ—मेरा आत्मा एक अकेला है, अविनाशी है, ज्ञान दर्शन लक्षणको रखनेवाला है मेरे आत्मीक भावके सिवाय अन्य सर्व भाव मुझसे बाहर हैं तथा सर्व ही पर द्रव्यके संयोगसे हुए हैं ऐसे लक्षणधारी हैं।

सम्मं मे सव्व भूदेषु वैरं मज्झं ण केणवि
आसाए बोसरित्ताणं समाहिं पाडिवज्जए ॥९॥

भावार्थ—सर्व प्राणी मात्रमें मेरे समता भाव है, किसीके साथ भी मेरा बैर नहीं है, मैं सर्व आशाको छोड़कर एक समाधि भावको प्राप्त होता हूं।

सव्व वियप्पाभावे अप्पाणं जोदु जुंजदे साहू।
सो जोग भत्ति जुत्तो इदरस्स य कहं हवे जोगो। १०

भावार्थ—जो कोई साधु सर्व विकल्पोंके अभावमें अपने आपको युक्त करता है वही योग भक्ति सहित है—अन्यके यह योग कैसे हो सक्ता है।

जह णाम कोवि पुरिसो, परदव्व मिणंति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे, णाऊण विमुंचदे णाणी ॥११॥

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष यह पर द्रव्य है ऐसा जान कर उसको त्यागता है उसी तरह ज्ञानी अपने आत्मज्ञान सिवाय सर्व परभावोंको पर जान छोड़ देता है।

णत्थि मम कोवि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोह णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥१२॥

भावार्थ—मोह मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं है मैं तो एक ज्ञान दर्शन उपयोगका धारी हूं। आत्माके ज्ञाता मुझे इसी लिये मोहसे ममत्व रहित कहते हैं।

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसण णाण मइओ सयारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणु मित्तं वि॥३॥

भावार्थ—प्रगटपने मैं एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शनज्ञान मई हूं, और सदा अरूपी हूं मेरे सिवाय अन्य परमाणु मात्र भी कुछ मेरा नहीं है।

अहमिक्को खलु सुद्धो य णिम्ममो णाण दंसण समग्गो
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥४॥

भावार्थ—मैं निश्चयसे एक हूं, शुद्ध हूं, ममत्व रहित हूं, ज्ञानदर्शनसे पूर्ण हूं, मैं अपने शुद्ध आत्मामें स्थित होता व उसीमें तन्मय होता हुआ इन सर्व ही काम क्रोधादि भावोंको नाश करता हूं।

जह कणय मग्गितवियं कणय सहावं णतं परिच्चयदि।
तह कम्मोदय तविदो ण चयदि णाणी दु णाणित्तं॥५॥

भावार्थ—जैसे अग्निसे तपाया हुआ सोना अपने सुवर्णके स्वभावको नहीं छोड़ता तैसे कर्मोंके उदयसे तप्तायमान ज्ञानी जीव अपने ज्ञानपनेको नहीं त्यागता है।

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥६॥

भावार्थ—यह जीव अपने आत्माको शुद्ध रूप अनुभव करता हुआ शुद्ध आत्माके स्वरूपको ही प्राप्त करता है परन्तु अशुद्ध

रूप अनुभव करता हुआ अशुद्ध आत्माके रूपको ही पाता है।

परमाणु मित्तियं विहु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णविसो जाणदि अप्पा णयंतु सव्वागमधरोवि ॥७॥

भावार्थ—रागद्वेषादिकोंका परमाणु मात्र भी जिसकी आत्मामें है वह सर्व शास्त्रोंका जाननेवाला होने पर भी आत्माको नहीं अनुभव करता है।

छिज्जदुवा भिज्जदुवा णिज्जदुवा अहवजादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ॥८॥

भावार्थ—ज्ञानी ऐसा विचारता है कि यह देहादि पर द्रव्य छिद जाहु, भिद जाहु, व कोई कहीं ले जाहु या प्रलय हो जाहु अथवा चाहे जिस कारणसे चला जाहु तथापि यह पर द्रव्य परिग्रह नहीं है।

एदम्हि रदो णिचं संतुट्ठो होहि णिच मेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सोक्खं ॥९॥

भावार्थ—इसी ही आत्मस्वरूपमें नित्य रत रहो, नित्य इसीमें संतोषी हो, इसीमें ही तृप्त हो तो तुझे उत्तम सुख होगा।

जम्हा जाणदि णिचं तम्हा जीवोदु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥१०॥

भावार्थ—क्योंकि नित्य ही जाननेवाला है इसलिये जीव ज्ञायक है, यही ज्ञानी है। ज्ञान ज्ञानीके सिवाय अन्यत्र नहीं है ऐसा जानना चाहिये।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणा गुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीव मणिद्दिट्ठ संठाणं ॥११॥

भावार्थ—इस जीवको ऐसा जानो कि यह जीव रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्दसे रहित, सूक्ष्म, चेतना गुणधारी, किसी बाहरके चिन्हसे नहीं लखने योग्य तथा शरीर सम्बन्धी आकारोंसे रहित है।

उवओए उवओगो कोहाइसु णत्थि कोवि उवओगो।
कोहो कोहे चेवहि उवओगे णत्थि खलु कोहो॥१२॥

भावार्थ—देखने जाननेवाले उपयोग में उपयोग है, क्रोधादिकों में कोई भी उपयोग नहीं है। क्रोधमें ही क्रोध है, ज्ञान दर्शन उपयोगमें निश्चय कर क्रोध नहीं है।

पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदऊ हवइ एसो।
णदु एस मज्झभावो, जाणगभावो हु अहमिक्को॥१३॥

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानी ऐसा जाने हैं कि जो यह क्रोध आदि राग द्वेष है सो पुद्गल कर्म है उसीका फल रूप उदय यह भाव क्रोध है। यह मेरे जाननेमें आता है पर मेरा यह भाव नहीं है क्योंकि मैं तो एक ज्ञायक स्वरूप हूं।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झपरित्त णादव्वा॥१४॥

भावार्थ—जो चेतनेवाला आत्मा भेदज्ञान या प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करने योग्य है सो निश्चयसे मैं ही हूं। मेरेसे अन्य जो भाव हैं वे सब मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये।

श्रीपूज्यपाद स्वामी ।

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥

भावार्थ-ज्ञानी विचारता है कि जो कुछ रूपी वस्तु मुझे दिखलाई देती है वह कुछ जानती नहीं है क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है, तथा जो जाननेवाला आत्मा है उसका स्वरूप इन्द्रियोंसे दिखाई नहीं देता तो मैं किससे बात करूं ? अर्थात् बात न कर मौन रह स्वरूपका अनुभव करना चाहिये ।

यद्ग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२॥

भावार्थ-जो गृहण करने योग्य नहीं है ऐसी जो पर वस्तु उसे जो कभी ग्रहण नहीं करता है तथा जिस अपनी आत्म-विभूतिको ग्रहण किये हुए है उसे कभी छोड़ता नहीं है और जो सर्व तरहसे सर्वको जानता है वही मैं अपने आपसे अनुभव-न करने योग्य आत्मा हूं ।

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥३॥

भावार्थ-जो परमात्मा है सो ही मैं हूं, जो मैं हूं सो ही परमात्मा है, मेरे और परमात्माके स्वभावमें कोई अन्तर नहीं है इसलिये मेरे द्वारा मैं ही उपासनाके योग्य हूं अन्य नहीं ऐसी वस्तुकी मर्यादा है ।

रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम्
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः॥४॥

भावार्थ-जिसका मन रूपी जल राग द्वेष आदि लहरोंसे अडोल है वही आत्माके स्वरूपको अनुभव करता है। दूसरा कोई मनुष्य उस तत्त्वको नहीं अनुभव कर सक्ता।

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥५॥

भावार्थ-क्षोभ रहित मनका होना तत्त्व है। क्षोभ सहित मन होना अपनी भ्रान्ति है इसलिये क्षोभ रहित मनको धारण कर, क्षोभ रूप मनका आश्रय न ले।

युञ्जीत मनसात्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥६॥

भावार्थ-आत्माको वचन और कायसे हटाकर उसमें मन लगावे तथा वचन और काय सम्बन्धी व्यवहारको भी मनसे छुड़ावे।

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वासो रम्यमेव वा
आत्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥७॥

भावार्थ-यह जगत उन्हीको विश्वासके योग्य तथा रमणीक भासता है जो शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाले हैं पर जो आत्मामें ही आत्माको देखनेवाले हैं उनके लिये इस जगतमें कहां तो विश्वास हो तथा कहां प्रीति हो?

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ८ ॥

भावार्थ-तत्त्वज्ञानीको उचित है कि आत्मज्ञानके सिवाय अन्य कार्यको बुद्धिमें चिरकाल तक न धारण करे। प्रयोजन वशसे कुछ कार्य वचन और कायसे करे परंतु उसमें लीन न हो।

स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ९ ॥

भावार्थ—जब तक यह मनुष्य मन, बचन और काय तीनों-आत्मा है ऐसी बुद्धिसे मानता है तब तक इसके संसार है। जब इन तीनोंसे आत्मा भिन्न है ऐसा इसके अभ्यास होता है तब संसारके दुःखोंसे छूटता है।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्त्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥१०॥

भावार्थ—यह आत्मा अपनेसे भिन्न जो परमात्मा उनका अभ्यास करके वैसा ही परमात्मा हो जाता है तो भी दीपककी सेवा करनेसे वैसी ही दीपमय हो जाती है।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥११॥

भावार्थ—यह आत्मा अपने आत्माकी ही उपासना करनेसे उसी तरह परमात्मा हो जाता है जिस तरह वृक्ष आप अपनेको मन्थन करके स्वयंस् अग्नि रूप हो जाता है।

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे जैसे आत्माके अनुभवमें उत्तम आत्म तत्व आता जाता है और उसका आनन्द प्रगट होता है वैसे वैसे इन्द्रियोंके विषय जो सुलभ भी हों नहीं रुचने लगते हैं।

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहार बहिः स्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ २ ॥

भावार्थ—जो व्यवहारसे वहार ठहरा है और आत्माके अनुभवमें लीन हुआ है उस योगीके किसी योगसे परम आनन्द पैदा होता है।

श्रीपद्मनंदि आचार्य।

आत्मा मूर्तिविवर्जितोऽपि वपुषि स्थित्वाऽपि दुर्लक्षतां—
प्राप्तोऽपि स्फुरति स्फुटं यदहमित्युल्लेखतः संततं ॥
तत्किं मुह्यत शासनादपि गुरो र्भ्रांतिः समुत्सृज्यता—
मंतः पश्यत निश्चयेन मनसा तं तन्मुखाक्षव्रजाः ॥१॥

भावार्थ—आत्मा यद्यपि स्पर्श रस गंध वर्ण मई मूर्तिसे रहित है तो भी अपने शरीरमें स्थित है। यद्यपि यह दिखलाई नहीं पड़ता है तो भी मैं ऐसे चिंतवनसे सदा ही प्रगट है। इससे तू क्यों मोह करता है, गुरूके उपदेशसे अपना भ्रम छोड़ और अपने भीतर अपनी इन्द्रियोंको भी उधर लगाकर निश्चय मनसे उसको देख।

ज्ञानज्योतिरुदेति मोहतमसां भेदः समुत्पद्यते।
सानंदा कृतकृत्यता च सहसा स्वांते समुन्मीलिति ॥
यस्यैकस्मृति मात्रतोऽपि भगवानत्रैव देहांतरे।
देवस्तिष्ठति मृग्यतां स रभसादन्यत्र किं धावत ॥२॥

भावार्थ—जिसके स्मरण मात्रसे ज्ञान ज्योति झलकती है, मोह अंधकार हटता है, मनमें एकाएक आनंद सहित कृतार्थता प्रगट होती है सो भगवान—आत्मा—देव इस शरीरमें ही है उसको अच्छी तरह ढूंढो और स्थानोंमें क्यों दौड़ते हो?

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं महः ।
विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारि नभो भवेत् ॥३॥

भावार्थ–क्रोधादि कर्मोंके संयोग होने पर भी यह परम ज्योति आत्मा विकार रहित रहता है जैसे विकार करनेवाले मेघोंके होते हुए भी आकाश अविकारी रहता है।

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम् ।
चारित्रं च तदेकं स्यात्तदेकं निर्मलं तपः ॥४॥

भावार्थ- वही एक परमज्ञान है, वही एक निर्मल दर्शन, है, वही एक चारित्र है और वही एक निर्मल तप है।

नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मंगलम् ।
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम् ॥५॥

भावार्थ–वही आत्मा एक नमस्कार योग्य है, वही मंगल है, वही एक उत्तम है तथा वही एक सज्जनोंके लिये शरण है।

तदेवैकं परं रत्नं सर्वशास्त्रमहोदधेः ।
रमणीयेषु सर्वेषु तदेकं पुरतः स्थितम् ॥६॥

भावार्थ–सर्व शास्त्ररूपी महासमुद्रमें प्रगट वही एक उत्कृष्ट रत्न है, वही एक सर्व सुन्दर वस्तुओंमें परम सुन्दर है।

संसार घोरघर्मेण सदा तप्तस्य देहिनः ।
यंत्रधारागृहं शांतं तदेव हिमशीतलम् ॥७॥

भावार्थ–संसारके भयानक आतापसे सदा तपते हुए दुःखी प्राणीके लिये वही आत्मा एक बर्फके समान ठंडा परम शांत जल-मंदिर है।

शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाहं न संशयः ।

यथाकल्पनयाप्येतद्धानिमानंदमन्दिरम् ॥८॥

भावार्थ—जो कोई शुद्ध चिद्रूप है वही मैं हूं इसमें संशय नहीं इस प्रकारकी भी कल्पनासे जो रहित है वही निर्विकल्प आनन्दका मंदिर है।

कर्मबंधकलितोप्यबंधनो, द्वेषरागमलिनोऽपि निर्मलः।

देहवानपि च देहवर्जित, श्चित्रमेतदखिलं किलात्मनः ॥९॥

भावार्थ—जो कर्म बंध सहित होनेपर भी बंधन रहित है, द्वेष, रागसे मलिन मालूम होनेपर भी निर्मल है, देहधारी दिखती है तो भी वह शरीर रहित है आत्माका यह सब स्वरूप विचित्र है।

संविशुद्धपरमात्मभावना। संविशुद्धपदकारणं भवेत्।

सेतरेतरकृते सुवर्णतो। लोहतश्च विकृती तदाश्रिते ॥१०॥

भावार्थ—शुद्ध परमात्माकी भावना शुद्ध पद लाभका कारण है। अशुद्ध भावना अशुद्ध पद लाभका कारण है। जैसे सुवर्णमे सुवर्णकी और लोहेसे लोहेकी वस्तु बनती है।

व्याधिनांगमभिभूयते परम्। तद्गतोऽपि न पुन-श्चिदात्मकः।

उच्छ्रितेन गृहमेव दह्यते, वह्निना न गगनं तदा-श्रितम् ॥११॥

भावार्थ—रोगसे शरीरको पीड़ा होती है परंतु उनके भीतर

चिदात्माको नहीं। अग्नि लगने पर मकान ही जलता है, उसके भीतरका आकाश नहीं जलता।

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतं, स्नानमत्र कुरुतो-
त्तमं बुधाः।
यन्नयात्यपरतीर्थकोटिभिः। क्षालयत्यपि मलं
तदंतरम् ॥१२॥

भावार्थ—आत्मज्ञान पवित्र उत्तम व अद्भुत तीर्थ है। हे बुद्धिवानों इसीमें स्नान करो, जो मल करोड़ों तीर्थोंके स्नानसे नहीं जाता वह अंतरंगका मल इसी तीर्थके स्नानसे जाता है।

यःकषायपवनैरचुंबितो, बोधवन्हिरमलोल्लसद्दशः
किं न मोहतिमिरं विखंडयन्, भासते जगति
चित्प्रदीपकः ॥१३॥

भावार्थ—जो कशायकी वायुसे स्पर्श नहीं पाता, जिसमें ज्ञानरूपी अग्निकी निर्मल ज्वाला उठ रही है ऐसा यह चैतन्य रूपी दीपक क्या मोह अंधकारको दूर करता हुआ जगतमें नहीं प्रकाश होता है अर्थात् अवश्य होता है।

बाह्यशास्त्रगहने विहारिणी, या मतिर्बहु-
विकल्पधारिणी।
चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गता, सा सती न सदृषी
कुयोषिता ॥१४॥

भावार्थ—जो बुद्धि चैतन्य स्वरूप जो अपना कुल गृह उसमें नहीं रह कर बाहर शास्त्रके वनमें घूमती रहती है और बहुत विकल्प उठाती है वह पतिव्रता स्त्रीके समान सती नहीं है

किन्तु व्यभिचारिणीके समान दोष पूर्ण है।

चित्स्वरूपपदलीनमानसो, यः सदा स किल योगि-
नायकः।
जीवराशिरखिलश्चिदात्मको, दर्शनीय इति
चात्मसन्निभः॥ १५ ॥

भावार्थ—जिसका मन चैतन्य स्वरूप अपने पदमें लीन होता है वह योगियोंका स्वामी है। वह समस्त जीवोंको अपने आत्माके समान चैतन्य रूप देखता है।

कुर्यात् कर्मविकल्पं किं मम तेनातिशुद्धरूपस्य।
मुखसंयोगज विकृतेर्नविकारी दर्पणो भवति॥१६॥

भावार्थ—पुण्य पाप कर्म अनेक विकल्प करे। मैं अत्यन्त शुद्ध रूपको धरनेवाला हूं मुझे उससे क्या? जैसे मुखके अनेक विकारोंके संयोगके होनेपर भी दर्पण विकारी नहीं होता है। मैं ज्ञाता दृष्टा हूं जाननेवाला हूं।

अहमेव चित्स्वरूपश्चिद्रूपस्याश्रयो मम स एव।
नान्यत्किमपि जडत्वात्, प्रीतिः सदृशेषु
कल्याणी॥१७॥

भावार्थ—मैं ही चैतन्य स्वरूप हूं। चैतन्य स्वरूप जो मैं मुझे उसीका ही आश्रय है। और किसी पदार्थसे मेरा आश्रय नहीं है क्योंकि वे जड़ अचेतन हैं। प्रीति समान स्वभाववालोंमें ही कल्याणकारी होती है।

यो जानाति स एव पश्यति सदा चिद्रूपतां न त्यजेत्।
सोऽहं नापरमस्ति किंचिदपि मे तत्त्वं सदेतत्परम्॥

यच्चान्यत्तदशेषकर्मजनितं क्रोधादि कार्यादि वा।
श्रुत्वा शास्त्रशतानि संप्रति मनस्येतच्छ्रुतं वर्तते।१८।

भावार्थ—जो कोई जाननेवाला है वही देखनेवाला है वह सदा अपने चैतन्य स्वभावको नहीं छोड़ता है। सोई मैं हूं और कोई मैं नहीं हूं; यही मेरा उत्कृष्ट तत्व है। और जो मेरे स्वरूपसे अन्य क्रोध आदि कार्य हैं। वे सब कर्म जो पुण्य पाप उससे उत्पन्न हैं। सैकड़ों शास्त्रोंको सुनकर अब उनका सारांश मेरे मनमें यही जम गया है।

—— ❋ ——

श्रीदेवसेन आचार्य।

दंसण णाण पहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो।
सगहिय देह पमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा॥१॥

भावार्थ—जो दर्शन ज्ञानमई है, असंख्यात प्रदेशी है. मूर्तिसे रहित है तथा अपनी देहके प्रमाण आकार रखनेवाला है उसे आत्मा जानना चाहिये।

रायादिया विभावा बहिरंतर उहवियप्प मुत्तूणं।
एयग्गमणो झायहि णिरंजणं णियय अप्पाणं॥२॥

भावार्थ—रागद्वेष आदि विभाव तथा बाहर भीतरके विकल्प छोड़कर एकाग्रह मन हो दोषरूपी अंजनसे रहित अपने आत्माका ध्यान कर।

जस्सण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेसाओ।
जाइजरामरणं चिय णिरंजणो सो अहं भणिओ॥३॥

भावार्थ–जिसके न क्रोध है, न मान है, न लोभ है, न कोई शल्य है, न भावोंकी रंगत रूप लेश्याएं है, जो जन्म, जरा मरणसे रहित है सोही मैं निरंजन हूं ऐसा कहा गया है।

फास रसरूप गंधा सद्दादीया थजस्स णत्थि पुणो।
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥४॥

भावार्थ–जिसके न स्पर्श है, न रस है न रूप है न गंध है न शब्दादिक हैं जो शुद्ध चैतन्य भाववाला है वही मैं निरंजन हूं ऐसा कहा गया है।

रूसइ तूसइ णिचं इंदिय विसयेहिं संगओ मूढो।
सकसाओ अण्णाणी, णाणी एदो दु विवरीदो ॥५॥

भावार्थ–जो मूर्ख है वह नित्य इन्द्रियोंके द्वारा कभी सुखी कभी दुःखी होता है वही कषायमान और अज्ञानी है; ज्ञानी इससे विपरीत वर्तन करता है।

अप्प समाणा दिट्ठा जीवा सव्वेवि तिहुअणत्थावि।
जो मज्झत्थो जोई णय तूसइ णेय रूसेइ ॥६॥

भावार्थ–जिसने अपने आत्माके समान सर्व ही तीन भुवनके आत्माओंको देखा है सो मध्यस्थ भावधारी योगी न प्रसन्न और न दुःखी होता है।

रायद्दोसा दीहिय डहुलिज्जइ णेव जस्स मण सलिलं।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥७॥

भावार्थ—जिसका मनरूपी जल रागद्वेषादि भावोंसे क्षोभित नहीं होता है वही अपने आत्म तत्त्वको देखता है। इससे जो उल्टा है वह उसे नहीं देखता।

सर सलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियंपि जह रयणं ।
मण सलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले ॥८॥

भावार्थ—जैसे तालावके स्थिर जलमें डाला हुआ रत्न झलकता है तैसे मनरूपी जलके थिर होनेपर वहां निर्मल आत्मा दीखता है ।

मण करहो धावंतो णाणवरत्ताइ जेहिं णहु बद्धो ।
ते पुरिसा संसारे हिंडंति दुहाइं भुंजंता ॥१॥

भावार्थ—जिसने मनरूपी दौड़ते हुए हाथीको ज्ञानरूपी रस्सीसे नहीं बांधा है वे पुरुष दुःख भोगते हुए संसारमें भ्रमण करते हैं ।

उवसमवंतो जीवो मणस्स [illegible]क्केइ णिग्गहं काउं ।
णिग्गहिए मणपसरं [illegible]ा परमप्पओ हवई ॥२॥

भावार्थ—शांत मनवाला जीव मनको रोक सकता है, मनके फैलावके रुक जानेसे आत्मा परमात्मा रूप हो जाता है ।

उव्वसिए मण गेहे णट्ठे णीसेस करणवावारे ।
विप्फुरिए ससहावे अप्पा परमप्पओ हवई ॥३॥

भावार्थ—मनरूपी घरके उजाड़, होनेपर सर्व इन्द्रियोंके व्यापार नष्ट होनेपर तथा अपने आत्म स्वभावके स्फुरायमान होनेपर यह आत्मा परमात्मा रूप हो जाता है ।

सुक्खमओ अहमेको सुद्धप्पा णाण दंसण समग्गो ।
अण्णे जे परभावा ते सव्वे कम्मणा जणिया ॥४॥

भावार्थ—मैं आनन्दमई हूं, एक हूं, शुद्धात्मा हूं, ज्ञान दर्शनसे पूर्ण हूं। और जो परभाव हैं वे सब कर्मोंके द्वारा उत्पन्न हुए हैं।

—+—

श्रीअमृतचंद्र आचार्य

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्त-
विमुक्तमेकं।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्ध-
नयोऽभ्युदेति॥१॥

भावार्थ—आत्माका स्वभाव परभावोंसे रहित, अपने गुणोंमे पूर्ण, आदि अंत रहित एक केवल, सर्व संकल्प विकल्प जालोंसे शून्य ऐसे शुद्ध तत्वको देखनेवाली दृष्टि प्रकाश करती हुई उदय होती है।

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकं।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घन-
महोनिधिरस्मि॥२॥

भावार्थ—सर्व प्रकार अपने आत्मीक रससे भरा हुआ और एक रूप अपनेको मैं आप ही अनुभव करता हूं। यह मोह मेरा कोई सम्बन्धी नहीं है। मैं शुद्ध चैतन्यका एक समुद्र हूं।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व
एवास्यपुंसः।
ते नैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं
परं स्यात्॥३॥

भावार्थ—ये वर्ण आदि व राग मोह आदि भाव हैं वे सब इस आत्मासे भिन्न हैं। इसी स्वरूपसे ही निश्चयसे जब भीतर देखा जाता है तो वहां ये कोई नहीं दीखते वहां तो एक यह उत्कृष्ट आत्मा ही देख पड़ता है।

चैद्रूप्यं जड़रूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो–
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्म्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः।
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीय च्युताः॥४॥

भावार्थ—अंतरंगमें भयानक ज्ञानकी चोटसे ज्ञानको चैतन्यरूप और रागको जड़रूप जान कर दोनोंको सब तरह भिन्न करके यह निर्मल भेदज्ञान व विवेक उदय होता है। ऐ सन्त पुरुषो! अब दूसरेसे हटकर इस एक शुद्ध ज्ञानके समूहरूप चैतन्यमई आत्माको अनुभव करते हुए आनन्दित रहो।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः॥५॥

भावार्थ—एक उसी पदका ही स्वाद लेना चाहिये जो आपत्तियोंका स्थान नहीं है। जिसके सामने और सब पद हैं वे अपदरूप ही मालूम होते हैं।

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाःपरे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाःपरे सर्वत एव हेयाः॥६॥

भावार्थ—चैतन्य आत्माका एक चेतनामई ही भाव है। इसके सिवाय जो रागादि भाव हैं वे सब परके हैं। इसलिये एक चैतन्यमई ही भावको ग्रहण करना चाहिये और दूसरे भावोंको सब तरहसे छोड़ना चाहिये।

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं विभ्रत् पृथक् वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहज स्फारप्रभाभासुरः।
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति॥७॥

भावार्थ—अन्य भावोंसे रहित, आत्मामें निश्चल, भिन्न वस्तुपनेको धारता हुआ, गृहण त्यागसे शून्य यह निर्मल ज्ञान जैसा है वैसा स्थित है। आदि, मध्य, अंतके विभागसे रहित स्वाभाविक उदयरूप प्रभासे चमकता हुआ व शुद्ध ज्ञान समूह है महिमा जिसकी ऐसा यह आत्मतत्व नित्य उदयरूप होता हुआ विराजमान है।

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारण-
मात्मनीह॥८॥

भावार्थ—जब अपनी सर्व शक्तिको समेटे हुए पूर्ण आत्माका अनुभव अपने आत्मामें हुआ तब जो छोड़ने लायक था सो सब छोड़ दिया गया और जो गृहण करने लायक था सो सब गृहण कर लिया गया।

जयति सहजतेजः पुंज मज्जत्त्रिलोकी,
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्वोपलम्भः,
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एष ॥९॥

भावार्थ—यह चैतन्यका चमत्कार जयको प्राप्त हो जिसके स्वाभाविक ज्ञान तेजके समूहमें तीन लोक डूब रहे हैं, जो सर्व विकल्पोंसे रहित एक ही स्वरूपको रखता है, जो अपने रसके प्रवाहसे पूर्ण होकर अखंड तत्वका लाभ कर रहा है तथा जो अति तेज और निश्चल ज्योतिको रखनेवाला है ।

—————

श्री अमितिगति आचार्य ।

दुःखे सुखे वैरिणि बंधुवर्गे, योगे वियोगे भवने बने वा ।
निराकृताऽशेष ममत्त्वबुद्धेः, समं मनो मेऽस्तु
सदाऽपि नाथ ॥ १ ॥

भावार्थ—हे नाथ (आत्मा)! मैंने अपने सिवाय सर्वसे अपनी ममताकी बुद्धि हटा दी है इसलिये दुःख सुखमें, शत्रु व बंधुवर्गमें, संयोग व वियोगमें, घर व वनमें सर्व ही में मेरा मन सम अर्थात् उदास, रागद्वेष रहित हो जावे ।

यः स्मर्यते सर्व मुनीन्द्रवृन्दैः,
यः स्तूयते सर्वनराऽमरेन्द्रैः ।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः
स देव देवो हृदये मम आस्तां ॥ २ ॥

भावार्थ—जिसको सर्व साधुओंकी समाज याद करती है, जिसकी सर्व राजा महाराजा व इन्द्रादि देव स्तुति करते हैं, जिसकी महिमा वेद, पुराण व शास्त्रोंमें गाई गई है वह देवोंका देव महादेव परमात्मा मेरे हृदयमें विराजे।

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः,
समस्तसंसारविकारबाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः,
स देव देवो हृदये मम आस्तां ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिसका स्वभाव देखना, जानना और आनन्दमई है, जो सब संसारके विकारोंसे बाहर है, जो रागद्वेष रहित समता रूप आत्म समाधिसे जाना जाता है, ऐसा जो परमात्मा देवोंका देव है सो मेरे हृदयमें विराजमान हो।

न स्पृश्यते कर्मकलंकदोषैः, यो ध्वांतसंघैरिव तिग्म-रश्मिः।
निरंजनं नित्यमनेकमेकं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥४॥

भावार्थ—जिस तरह सूर्य्य अंधकारके समूहसे नहीं छुआ जाता इसी तरह जो कर्म कलंक आदि दोषोंसे नहीं छुआ जाता है, जो कर्मरूपी अंजनसे रहित, अविनाशी, गुणोंके भेदसे अनेक तथा द्रव्यके अभेदसे एक है, उस परमात्म देवकी शरण मैं लेता हूं।

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं, विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तं।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनंतं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ।५।

भावार्थ—जिसके देखनेसे यह जगत साफ साफ अलग २ दिखलाई पड़ता है, जो शुद्ध सुखमय, शांत व आदि अंत रहित है उस परमात्म देवकी शरण में लेता हूं।

येन क्षता मन्मथमानमूर्छाविषादनिद्राभयशोक-
चिन्ता।
क्षयाऽनलेनैव तरुप्रपंचस्तं, देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥६॥

भावार्थ—जैसे अग्नि वृक्षसमूहको नष्ट कर डालती है उसी तरह जिसने कामदेव, घमंड, ममत्व, खेद, नींद, भय, शोक व चिंताको नष्ट कर दिया है अर्थात् ये दोष जिसमें नहीं हैं उस परमात्म देवकी शरण में लेता हूं।

एकः सदा शाश्वतिको मम आत्मा,
विनिर्मलः साऽधिगमस्वभावः।
वहिर्भवाः संत्यपरे समस्ताः,
न शाश्वताः कर्मभवा स्वकीयाः ॥७॥

भावार्थ—मेरा आत्मा एक अकेला है, सदा अविनाशी है अत्यन्त निर्मल तथा ज्ञान स्वभाव है, मेरे आत्माके शुद्ध भावोंको छोड़कर दूसरे और जो भाव हैं वे सब मुझसे वाहर हैं, अनित्य हैं अपने २ कर्मोंके उदयसे होनेवाले हैं।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्द्धं,
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥८॥

भावार्थ—जिसकी एकता सूक्ष्म या स्थूल किसी भी शरीरके साथ नहीं है उसकी एकता अत्यन्त जुदे पुत्र, स्त्री व मित्रोंसे कैसे हो सकती है ? जब चमड़ेको अलग कर दिया जाय तो रोमछिद्र फिर शरीरमें कैसे ठहर सकते हैं ? क्योंकि वे चमड़ेके आश्रय हैं ।

सर्वं निराकृत्यविकल्पजालं,
संसारकांतार निपातहेतुं ।
विविक्तमात्मा नमवेक्ष्यमाणः,
निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥९॥

भावार्थ—संसार वनमें भटकानेके कारण सब विकल्प जालोंको दूर कर सबसे अलग अपनी आत्माको देखता हुआ तू परमात्म तत्त्वमें लीन हो जा ।

स्वसंविदितमत्यक्षमव्यभिचारि केवलं ।
नास्ति ज्ञानं परित्यज्य रूपं चेतयितुः परं ॥१॥

भावार्थ—आत्मा जो चेतनेवाला है उसका स्वभाव स्वसंवेदन रूप, इन्द्रियोंसे अतीत, दोष रहित और केवल—असहाय ज्ञानको छोड़कर अन्य रागादिरूप नहीं है ।

कर्मनोकर्मनिर्मुक्तममूर्त्तमजरामरं ।
निर्विशेषमसंबद्धमात्मानं योगिनो विदुः ॥२॥

भावार्थ—योगी महात्मा आत्माको ऐसा अनुभव करते हैं कि यह सूक्ष्म शरीर जो कर्म और स्थूल शरीर जो नोकर्म उनसे भिन्न है, रूप रस गंध वर्णमई मूर्त्तिसे रहित है, अजर अमर है,

अपने गुणोंसे अभेद रूप है और परद्रव्य परभावसे सम्बन्ध रहित है।

दृश्यते ज्ञायते किंचिद्यदक्षैरनुभूयते।
तत्सर्वमात्मनो बाह्यं विनश्वरमचेतनं ॥३॥

भावार्थ—जो कुछ इन्द्रियोंसे देखने, जानने, तथा अनुभवमें आता है वह सब आत्मासे बाहर, विनाशीक और अचेतन है।

येनार्थो ज्ञायते तेन, ज्ञानी न ज्ञायते कथं।
उद्योतो दृश्यते येन दीपस्तेन तरां न किं ॥४॥

भावार्थ—जिस ज्ञानसे पदार्थका ज्ञान होता है उस ज्ञानसे ज्ञानी आत्मा कैसे नहीं जाना जायगा? जैसे जिससे प्रकाश दीखता है उससे दीपक क्यों नहीं दीखेगा?

विमुक्तो निर्वृतः सिद्धः परं ब्रह्माऽभवः शिवः।
अन्वर्थः शब्दभेदेऽपि भेदस्तस्य न विद्यते ॥५॥

भावार्थ—विमुक्त है, सबसे छुटा निर्वृत्त है, सिद्ध है, परं ब्रह्म है, अजन्मा है, शिव है। यह सब शब्दोंका भेद होनेपर भी उस आत्माके शुद्ध स्वरूपमें कोई भेद नहीं है।

विविक्तमांतरं ज्योतिर्निराबाधमनामयं।
यदेतत्तत्परं तत्त्वं तस्यापरमुपद्रवः ॥६॥

भावार्थ—जो यह अंतरंगमें ज्योति स्वरूप, सबसे अलग, बाधा रहित, तथा रोगादि रहित है वही उत्कृष्ट आत्मतत्त्व है। उसके सिवाय अन्य तत्त्व उपद्रव रूप आकुलतामय हैं।

यत्रासत्याखिलं ध्वांतमुद्योतः सति चाखिलः।
अस्त्यपि ध्वांतमुद्योतस्तज्ज्योतिः परमात्मनः ॥७॥

भावार्थ—जिसके अनुभव न होने पर सब अंधकार है व जिसके अनुभव होनेसे सर्व प्रकाश है। और तो क्या जगतका अंधकार होनेपर भी वहां प्रकाश रहता है वही परमात्माकी ज्ञान-ज्योति है। ज्ञानज्योतिसे सदा ही सब वस्तुओंका स्वरूप यथार्थ झलकता है।

सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थिताः।
शक्यंतेऽन्यथा कर्तुं ते परेण कदाच न ॥८॥
नान्यथा शक्यते कर्तुं, मिलद्भिरिवनिर्मलः।
आत्माऽऽकाशमिव परद्रव्यैरनश्वरः ॥९॥

भावार्थ—सर्व पदार्थ स्वभावसे अपने२ स्वभावमें रहते हैं एक पदार्थ दूसरेको उसके स्वभावसे और रूप नहीं कर सक्ता। जड़से चेतन नहीं हो सक्ता, चेतनसे जड़ नहीं। इसी तरह आत्मा भी आकाशकी तरह और पदार्थोंसे मिलते हुए भी निर्मल, अमूर्तीक और अविनाशी रहता है।

श्रीपद्मप्रभमलधारि देव।

सहजज्ञानसाम्राज्यं सर्वस्वं शुद्धचिन्मयम्।
ममात्मानमयं ज्ञात्वा निर्विकल्पो भवाम्यहम् ॥१॥

भावार्थ—जो स्वाभाविक ज्ञानका साम्राज्य है, और सर्वांग शुद्ध चैतन्य ज्योतिस्वरूप है ऐसा मेरे आत्माको जानकर मैं विकल्प रहित होता हूं।

नित्यशुद्धचिदानंदं संपदामाकरं परम्।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम् ॥ २ ॥

भावार्थ—मैं ऐसे पदका अच्छी तरह अनुभव करता हूं नित्य शुद्ध चिदानंदमई संपदाकी खान है और उत्कृष्ट है तथा जो विपत्तियोंका स्थान नहीं है।

दुरघवनकुठारः प्राप्तदुःकर्मपारः,
परपरिणातिदूरः प्रास्तरागाब्धिपूरः।
हतविविधविकारः सत्यशर्माब्धिनीरः
सपदि समयसारः पातु मामस्तमारः ॥३॥

भावार्थ—वह समयसार अर्थात् शुद्धात्मा शीघ्र हमारी रक्षा करो जो पापरूपी वनके काटनेको कुठार है, दुष्कर्मसे पार है, पररूप परणमन करनेसे दूर है, रागरूपी समुद्रको जो सोख चुका है, अर्थात् वीतराग है, नाना प्रकार विकारोंसे दूर है और सत्य आनन्दका समुद्र है।

समयसारमनाकुलमच्युतं,
जननमृत्युरुजादिविवर्जितम्।
सहजनिर्मलशर्म्मसुधामयम्,
समरसेन सदा परिपूजये ॥ ४ ॥

भावार्थ—मैं उस समयसार अर्थात् शुद्धात्माको समता रससे सदा पूजता हूं जो आकुलता रहित है, अपने गुणोंसे अच्युत अर्थात् दृढ़ है, जन्म मरण रोगादिसे रहित है, तथा स्वाभाविक निर्मल आनन्दरूपी अमृतका घर है।

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरसंसारमूलं,
ध्यानध्येयप्रमुखसुतपः कल्पनामात्र रम्यम्।

बुद्ध्वा धीमान् सहजपरमानन्दपीयूषपूरे,
निर्मज्जन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्म ध्यानको छोड़कर और सब विचार भयानक संसारके मूल हैं, ध्यान ध्येयका विकल्प रूप जो तप है सो कहने मात्र ही सुन्दर है, ऐसा जानकर बुद्धिमान् पुरुष स्वाभाविक परमानन्दमई अमृतके समुद्रमें मग्न-सहज एक परमात्मा ही का अनुभव करते हैं।

निर्द्वंद्वं निरुपद्रवं निरुपमं नित्यं निजात्मोद्भवं,
नान्यद्रव्यविभावनोद्भवमिदं शर्म्मामृतं निर्मलं।
पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृतमप्येतद्विहायाधुना,
प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्र-
चिन्तामणिम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—कोई पुण्यात्मा अब इस पुण्यके ममत्वको भी त्यागकर निर्द्वंद्व, उपद्रवरहित, अनुपम, नित्य, अपने आत्मासे ही उत्पन्न तथा अन्य द्रव्य व अन्यभावसे नहीं पैदा होनेवाले इस आनन्द अमृतमई निर्मल जलको पीकर प्रगट अद्वितीय, अतुल, चैतन्यमात्र चिन्तामणि रत्नको प्राप्त करता है।

अहमात्मा सुखाकांक्षी स्वात्मानमजमच्युतम्।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा भावयामि मुहुर्मुहुः ॥७॥

भावार्थ—मैं आत्मा हूं, निज सुखका चाहनेवाला हूं इससे मैं अपने ही अजन्म और अमर आत्माको अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्मामें ठहर कर वारवार भाता हूं।

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना।
शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानंदात्मतत्वास्थितः।
धर्म्मं निर्म्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरोः सन्निधौ।
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ॥८॥

भावार्थ—रागद्वेषोंमें परंपरासे परिणत होनेवाले चित्तको त्यागकर अब मैं शुद्ध ध्यानसे अपने मनको संयुक्त करके आनंदमई आत्मतत्वमें स्थित होता हुआ तथा श्रीगुरुके निकट पवित्र सुखकारी धर्मको प्राप्त करके अपने सम्यग्ज्ञानसे समस्त मोहकी महिमाको हटाता हुआ परब्रह्म स्वरूप परमात्मामें लीन होता हूं।

मुक्त्वाजल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च।
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकं।
ज्ञानज्योतिः प्रकटितनिजाभ्यन्तरांगान्तरात्मा
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श ॥९॥

भावार्थ—संसारके भयको पैदा करनेवाले सर्व बाहर और भीतरके विकल्पोंको त्यागकर तथा नित्य समतारसमई एक चैतन्यके चमत्कार मात्र स्वरूपको स्मरण करके ज्ञानज्योतिसे जिसका आत्मा प्रकाशमान होरहा है ऐसा महात्मा मोहके नष्ट होने पर किसी परम तत्वको अंतरंगमें देखने लगा।

—❧—

श्री शुभचंद्र आचार्य।

तद्ध्यानं तद्धि विज्ञानं तद्ध्येयं तत्वमेव वा।
येनाविद्यामतिक्रम्य मनस्तत्वे [स्थिरी भवेत्] ॥१॥

भावार्थ—वही ध्यान है, वही विज्ञान है, वही ध्येय तत्व है जिसके प्रभावसे मन अज्ञानको उल्लंघ कर आत्मतत्वमें स्थिर हो जावे।

सकलज्ञानसाम्राज्यं स्वीकर्त्तुं यः समीप्सति।
स धन्यः शमशस्त्रेण रागशत्रुं निकृन्तति ॥२॥

भावार्थ—जो समस्त ज्ञान रूप साम्राज्य अंगीकार करनेकी इच्छा रखता है वह धन्य पुरुष शान्त भाव रूपी शस्त्रसे राग रूपी शत्रुको काट देता है।

चिदचिल्लक्षणैर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थितैः।
न मुह्यति मनो यस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥३॥

भावार्थ—जिसका मन चेतन अचेतन इष्ट अनिष्ट पदार्थोंके द्वारा मोहित नहीं होता है उसीकी स्थिति समताभावमें होती है।

साम्यसूर्यांशुभिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे।
प्रपश्यति यमी स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ॥४॥

भावार्थ—जो समताभाव रूपी सूर्यकी किरणोंसे रागादि अंधकारके समूहको नष्ट कर देता है व जितेन्द्रिय अपनेमें ही परमात्माके स्वरूपको अनुभव करता है।

साम्यभावितभावानां स्यात्सुखं यन्मनीषिणाम्।
तन्मन्ये ज्ञानसाम्राज्यसमत्वमवलम्बते ॥५॥

भावार्थ—समताभावकी भावनासे पदार्थोंको विचार करनेवाले पुरुषोंको जो सुख होता है वह ज्ञान साम्राज्यकी प्राप्तिके समान है ऐसा मैं मानता हूं।

अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम् ।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रसूयते ॥६॥

भावार्थ—जिस समय यह आत्मा अपनेको समस्त परद्रव्योंकी पर्यायोंसे तथा परद्रव्योंसे भिन्न निश्चय करता है उसी समय उसके समताभाव पैदा होता है ।

अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः ।
न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः ॥७॥
अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मकोऽप्यहम् ।
किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम् ॥ ८ ॥
अद्यासाद्य स्वसामर्थ्यं प्रविश्यानन्दमन्दिरम् ।
न स्वरूपाच्च्यविष्येऽहं बाह्यार्थेषु गतस्पृहः ॥९॥
मयाद्यैव विनिश्चेयं स्वस्वरूपं हि वस्तुतः ।
छित्वाप्यनादिसंभूतामविद्यावैरिवागुराम ॥१०॥

भावार्थ—तत्त्वज्ञानीको ऐसा विचारना चाहिये कि मैं न नारकी हूं, न पशु हूं, न मनुष्य हूं और न देव हूं; किन्तु शुद्ध सिद्ध आत्मा हूं। ये सर्व अवस्थाएं कर्मोंके पराक्रमसे हुई हैं। मैं तो अनन्त शक्ति, ज्ञान, दर्शन तथा आनंद स्वरूप हूं। मैं आज ही अपने शत्रु कर्मरूपी विष वृक्षको क्यों न उखाड़ डालूंगा ? आज मैं अपनी शक्तिको प्रगट कर तथा आनंद मंदिर जो अपनी आत्मा उसमें प्रवेश कर बाहरी पदार्थोंमें इच्छाको छोड़ता हुआ अपने स्वरूपसे नहीं हटूंगा। आज ही मुझे अनादिसे चली आई अविद्या रूपी वैरीकी फांसीको छेद कर वास्तविक रूपसे अपने आत्मस्वरूपका निश्चय करना चाहिये ।

साकारं निर्गताकारं निष्क्रियं परमाक्षरम् ।
निर्विकल्पं च निष्कम्पं नित्यमानन्दमन्दिरम् ॥११॥
विश्वरूपमविज्ञातस्वरूपं सर्वदोदितम् ।
कृतकृत्यं शिवं शान्तं निष्कलं करणच्युतम् ॥१२॥
निःशेषभवसंभूतक्लेशद्रुमहुताशनम् ।
शुद्धमत्यन्तनिर्लेपं ज्ञानराज्यप्रतिष्ठितम् ॥१३॥
विशुद्धादर्शसंक्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम् ।
ज्योतिर्मयं महावीर्यं परिपूर्णं पुरातनम् ॥ १४ ॥
यदग्राह्यं बहिर्भावैर्ग्राह्यं चान्तर्मुखैः क्षणात् ।
तत्स्वभावात्मकं साक्षात्स्वरूपं परमात्मनः ॥१५॥

भावार्थ—परमात्माका स्वरूप साकार है अर्थात् वस्तु होनेसे आकाशके स्थानको घेरनेके कारण साकार है, मूर्तीक देह न होनेसे निराकार है. क्रिया रहित है, परम अविनाशी है, विकल्पोंसे शून्य है, निष्कम्प है, नित्य है, सुखका घर है। सर्व जगतको जाननेसे विश्वरूप है, अज्ञानियों द्वारा जानने योग्य नहीं है, सदा प्रकाशरूप है, कृतार्थ है, कल्याणरूप है, शान्त है, शरीरोंसे रहित है, अतीन्द्रिय है, सर्व जन्म २ के होनेवाले दुःखरूपी वृक्षके दग्ध करनेको अग्नि है, शुद्ध है, अत्यन्त कर्मके लेपसे शून्य है, ज्ञान राज्यमें प्रतिष्ठित है, निर्मल दर्पणमें प्राप्त प्रतिबिम्ब की तरह प्रभावान है, ज्ञानज्योति स्वरूप है, महाबली है, पूर्ण है, प्राचीन है, जो बाह्य भावोंसे ग्रहण योग्य नहीं है किन्तु अंतरंग भावोंसे क्षण मात्रमें ग्रहण योग्य है। ऐसा ही स्वभावरूप साक्षात् परमात्माका स्वरूप है।

यत्स्वरूपापरिज्ञानान्नात्मतत्त्वे स्थितिर्भवेत् ।
यज्ज्ञात्वा मुनिभिः साक्षात् प्राप्तं तस्यैव वैभवम् ।१६

भावार्थ—जिसके सरूपको विना जाने अपने आत्माके तत्त्वमें स्थिति नहीं होती तथा जिसको जानकर मुनियोंने साक्षात् उसीकी ही महिमाको प्राप्त किया है वही परमात्मा या शुद्धात्मा है।

अवाग्गोचरमव्यक्तमनन्तं शब्दवर्जितम् ।
अजं जन्मभ्रमातीतं निर्विकल्पं विचिन्तयेत् ॥१७॥

भावार्थ—जो वचनोंसे कहा नहीं जाता जो इन्द्रिय गोचर न होनेसे अव्यक्त है, अनन्त है, स्वयं शब्द रहित है, जन्मरहित है, संसार भ्रमणसे वर्जित है, विकल्प रहित है ऐसे परमात्माको चिन्तवन करे।

इत्यजस्रं स्मरन्योगी तत्स्वरूपावलम्बितः ।
तन्मयत्वमवाप्नोति ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ॥१८॥

भावार्थ—इस तरह एक योगी निरंतर स्मरण करता हुआ परमात्माके स्वरूपके अवलम्बनसे युक्त होकर उसके साथ तन्मई-पनेको प्राप्त हो जाता है फिर यह कल्पना नहीं रहती कि यह मुझे ग्रहण करने योग्य है और मैं ग्रहण करनेवाला हूं।

यो विशुद्धः प्रसिद्धात्मा परं ज्योतिः सनातनः ।
सोऽहं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम् ।१९।

भावार्थ—जो विशुद्ध, प्रसिद्ध, परम ज्योति, सनातन कोई है सोई मैं हूं इससे मैं अपने आतमामें ही उस अविनाशी आत्माको अनुभव करता हूं।

आत्मन्येवात्मनात्मायं स्वयमेवानुभूयते ।
अतोऽन्यत्रैव मां ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्फलः ॥२०॥

भावार्थ—यह आत्मा आत्मामें ही आत्माके द्वारा स्वयमेः अनुभव किया जाता है इसके सिवाय आत्माको जाननेका जो खेद है सो निष्फल है।

स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम्।
वासनां दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥ २१ ॥

भावार्थ—वही मैं हूं, वही मैं हूं इस तरह निरंतर अभ्यास करता हुआ पुरुष इस वासनाको दृढ़ करता हुआ ही आत्मामें स्थितिको प्राप्त करता है।

रागादिमलविश्लेषाद्यस्य चित्तं सुनिर्मलम्।
सम्यक्स्वं स हि जानाति नान्यः केनापि हेतुना॥२२॥

भावार्थ—जिसका चित्त राग आदि मलके मेलसे छूट कर निर्मल हो गया है वह भले प्रकार अपने आपको जानता है। और कोई किसी अन्य हेतुसे नहीं जान सक्ता।

यदक्षविषयं रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणम्।
आनन्दनिर्भरं रूपमन्तर्ज्योतिर्मयं मम ॥ २३ ॥

भावार्थ—ज्ञानी विचारता है कि जो इन्द्रियोंके ग्रहणमें आनेवाला रूप है सो मेरे स्वभावसे विलक्षण है मेरा स्वरूप तो आनन्दसे भरा हुआ अंतरंग ज्ञान ज्योतिमई है।

विवेच्य तद्गुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च।
अनन्य शरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥ २४

भावार्थ—अपने शुद्धात्माके गुणोंके समूहको अलग २ विचार कर फिर उस शुद्धात्माको चितार कर अन्यकी शरणसे रहित होता हुआ ज्ञानी उसी ही स्वरूपमें लय हो जाता है।

आत्मधर्म-सम्मेलन ।

१. हरएक जीव सुख शांति चाहता है-यह सर्वथा सत्य है।

२. सुख व शांति अपने आत्मामें है ।

३. आत्माके सत्स्वरूप पर विश्वास लाने और उसका ध्यान करनेसे वे स्वयं प्राप्त होने लगती हैं ।

४. आत्माका लक्षण चेतना (देखना, जानना) है। यह चेतना रहित अजीव पदार्थोंसे भिन्न है। इसका सत्स्वरूप असलमें शुद्ध, आनंदमई, अविनाशी, क्रोधादिक विकारोंसे रहित है। यह देह प्रमाण आकार रखता है। प्रत्येक आत्माकी सत्ता सदा भिन्न २ बनी रहती है, इससे यह नित्य है। आत्मामें परिणाम सदा नये २ हुआ करते हैं इससे यह परिणामी या अनित्य भी है ।

५. यद्यपि हम वर्तमानमें अशुद्ध हैं, पर हमे आत्माका शुद्ध स्वरूप निश्चय करके एकांतमें बैठ कर उसका भजन, मनन, पूजन, ध्यान सवेरे शाम कमसे कम १०-१५ मिनिट अवश्य करना चाहिये। अपनी ही देहमें देह प्रमाण स्फटिककी मूर्तिवत् उसे विचारना चाहिये ।

६. हरएक प्राणीमें भिन्न २ आत्मा है। सब चाहते हैं कि हमें कोई भी अपने मन, वचन, कायसे किसी प्रकारका दुःख न दे।

७. इसीसे आपका धर्म है कि अन्य प्राणियोंका बुरा न विचारें, उनके प्रति अहितकर वचन न कहें, उनकी बुराई न करें, अर्थात् सबके साथ प्रेमभाव रखकर हित सोचें व करें ।

८. इसीसे मनुष्योंकी रक्षा करो, उन्हें शिक्षित, स्वास्थ्ययुक्त, न्यायमार्गी और आत्मज्ञानी बनाओ। पशुओंकी हत्या

भोजनपान, औषधि, पूजा भक्ति और खेल तमाशे आदिके लिये न करो। गाय, भैंस, घोड़ा, बैल आदि पशुओंसे काम लो, पर कष्ट न दो। वृक्षोंपर भी दया पालो, उन्हें वृथा न सताओ।

९. भोजन ताजा, शुद्ध अन्न, शाक, फल. दुग्ध भूनका करो। व ताजा पानी छान कर पीओ। भूख लगने पर भोजन करो। दिनमें एक दफे भी भोजन बस है।

१० गृहमें स्त्री पुत्रादिका हित करो। मोहमें अंध होकर धर्मको न त्यागो।

११. इन्द्रिय विजयी होनेपर गृह त्याग आत्मध्यान करते हुए परोपकारमें जीवन विताओ।

ऊपरकी वातें पसंद हों तो सभासद होनेको पत्र भेजो। फीस प्रेम। सम्पर्कसे विशेष लाभ होगा।

पता—व्यवस्थापक,

तारीख १२–१२–१७ { आत्मधर्म–सम्मेलन
चंदावाड़ी–सूरत।